गायत्री-महत्त्व

[THE GRANDEUR OF GAYATRI]

लेखक

चिरंजीवलाल वानप्रस्थी

(स्वामी प्रेम-भिक्षु)

प्राप्ति-स्थान

श्री मलिक रामलाल

५/६० कनाट सरकस नई दिल्ली

पंचम संस्करण } चैत्र २००५ / मार्च १९४९ { मूल्य १)

प्रकाशक—

संयम पब्लिशर्ज लिमिटिड

न्यू देहली

मुद्रक—

तिलोकचन्द जैन

मैनेजर इन्द्रप्रस्थ प्रिंटिग प्रेस

क्वींजरोड, दिल्ली।

विषय-सूची

अध्याय				पृष्ठ
भूमिका				५
१. गुरुमन्त्र की महत्ता	...	...	...	६
२. गायत्री-जाप-विधि	...	...	...	३१
३. 'ओ३म्' नाम की महिमा	...	...	...	३४
४. ईश्वरसिद्धि	...	...	...	४२
५. भूर्भुवः स्वः	...	...	...	५१
६. तत्सवितुर्वरेण्यं	...	...	...	६३
७. भर्गो देवस्य धीमहि	...	...	...	७४
८. धियो यो नः प्रचोदयात्	...	...	...	८३
९. प्रामाणिक व्याख्याएं	...	...	...	९२

भूमिका

—:❀:—

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इसका अर्थ है "जब मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह से लपेटने में समर्थ हो जायंगे, तब परमात्मा को जाने बिना ही दुःख का अन्त हो सकेगा!" जिस तरह आकाश को चमड़े की तरह लपेटना असम्भव है, उसी तरह उस महान् देव का ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने दुःखों को तीन श्रेणियों में बांटा है—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। शारीरिक कारणों से तथा सांसारिक लेन-देन और संयोग-वियोग आदि से जो दुःख होते हैं, उन्हें आधिभौतिक कहा जा सकता है। जिन दुःखों पर हमारा बस नहीं चलता और जिनका कारण दैवीय है, उन्हें आधिदैविक दुःख कहा जाता है। मानसिक और आत्मा-सम्बन्धी दुःखों की गणना आध्यात्मिक दुःखों में है। ये सभी दुःख केवल परमपिता

परमेश्वर की कृपा और सहायता से ही दूर हो सकते हैं। इसी प्रभु की सहायता से मनुष्य इन दुःखों का नाश कर शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सुखों को प्राप्त कर सकता है। और परमात्मा की सहायता तथा आशीर्वाद प्राप्त करने का उपाय गायत्री-मन्त्र में वर्णित है।

योगिवर श्री अरविन्द घोष ने अपनी "लाइट ऑन योग" (Light on Yoga) नामक पुस्तक में लिखा है कि योग का मार्ग 'आत्मज्ञान, आत्मनियन्त्रण और आत्मसमर्पण' का मार्ग है। गायत्री-मन्त्र में भी मुख्यतया इसी मार्ग का उपदेश दिया गया है। गायत्री-मन्त्र के प्रथम दो पदों में परमात्मा के महान् गुणों का वर्णन किया गया है, इन गुणों की अनुभूति द्वारा ही साधक को आत्मज्ञान हो सकता है और आत्मज्ञान के द्वारा, अपने को उस प्रभु के निकट ले जाने की इच्छा से, साधक स्वयमेव आत्मनियन्त्रण का मार्ग अवलम्बन करेगा। गायत्री-मन्त्र के तीसरे चरण में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। इस प्रार्थना का अभिप्राय ही यह है कि साधक उस महाप्रभु के सन्मुख अपना आत्मसमर्पण कर देता है। जब साधक ने अपनी बुद्धि की प्रेरणा का स्रोत ही उस महाप्रभु को बना दिया तो उसमें मिथ्याभिमानी अथवा अहङ्कार बाकी कहां रह गया।

इस तरह संसार के सभी दुःखों से छुटकारा पाने और वास्तविक योग-मार्ग द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय गायत्री-मन्त्र

में वर्णित है। अतः आध्यात्मिक साधकों का निस्तार केवल इसी गायत्री मन्त्र की सतत साधना द्वारा हो सकता है।

बचपन ही से मेरी रुचि आर्यसमाज की ओर रही है। अपने बचपन से मैं आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में जाता रहा हूं। मुख्यतः इसी बात ने मुझे आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट किया। सन् १९०१ से काश्मीर में मैंने अपना कारोबार शुरू किया और वहाँ के स्थानीय आर्यसमाज में दिलचस्पी लेने लगा। पिछले ४० वर्षों में श्रीनगर आर्यसमाज से मेरा घनिष्ठतम सन्बन्ध रहा है और श्रीनगर की विशेष परिस्थितियों के कारण वहाँ आर्यसमाज के मान्य उपदेशकों, प्रचारकों तथा सन्तों से मिलने-जुलने का सौभाग्य मुझे प्रायः प्राप्त होता रहा है। गायत्री-मन्त्र के महत्व की ओर मेरा ध्यान इसी कारण आकृष्ट हुआ और आज अपने अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूं कि जितनी आत्मिक शान्ति मुझे गायत्री माता के प्रसाद से प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी बात से नहीं। अपनी उपर्युक्त साधना का परिणाम मैं आज पाठकों के सन्मुख इस इच्छा से प्रस्तुत कर रहा हूं कि वे आध्यात्मिकता के स्रोत इस गायत्री-मन्त्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हों।

गायत्री-मन्त्र के केवल वे ही अर्थ नहीं, जो इस पुस्तक में वर्णित हैं। गायत्री तो अमृत के भण्डार के समान है, अपनी-अपनी आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार, इससे चाहे जो अर्थ निकाले जा सकते हैं। जिस तरह एक दवाई के अनेक प्रयोग

हो सकते हैं। मैंने इस पुस्तक में गायत्री-मन्त्र के जो अर्थ लिये हैं, वे मुख्यतः आध्यात्मिक साधकों के लिए हैं।

गायत्री-मन्त्र का जाप करने के लिए सब से अधिक आवश्यक चीज एकान्त-सेवन है। मेरी राय में एकान्त-सेवन आत्मा का उसी प्रकार का आहार है, जिस प्रकार शरीर का आहार अन्न है। एकान्त-सेवन आत्मा की आवश्यक खुराक है। साधकों को गायत्री-मन्त्र का जाप सदैव एकान्त में ही करना चाहिए और तब अपनी सम्पूर्ण चित्त-वृत्तियों को गायत्री-मन्त्र की ओर ही केन्द्रित कर देना चाहिए।

अन्त में मैं पण्डित विश्वदेव जी तथा चि० चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में मुझे महत्वपूर्ण सहायता दी है।

१८ रैटीगन रोड, लाहौर
२६ जनवरी, १६४७

चिरंजीवलाल

ओ३म्

गायत्रीमहत्त्व

गुरुमन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

गुरुमन्त्र की महत्ता

मनुष्य के जीवन को उत्तम और मंगलकारी बनाने, तथा लोक-परलोक की सिद्धि का साधन उपर्युक्त गुरुमन्त्र ही है। इस मन्त्र को गायत्री माता, पतितपावनी सावित्री और वेद का सार कहा गया है। पूर्वकाल में उपदेश करने वाले महात्माओं से और आजकल ऋषि दयानन्द आदि धर्म और ब्रह्मज्ञान के प्रचारकों से, जब किसी जिज्ञासु ने उपदेश चाहा या अपने कल्याण की बात पूछी, तो उन्होंने गायत्री-मन्त्र का अर्थ-सहित जाप करने का ही उपदेश दिया।

ऋषि दयानन्द के उपदेश सुनने के लिए एक धुनिया भी आया करता था। एक दिन उसने अपने कल्याण के लिए ऋषिवर से उपदेश चाहा और निवेदन किया—"मैं कुछ

पढ़ा-लिखा नहीं। आपके उपदेश विद्वत्तापूर्ण होते हैं, इसलिए मुझ मूर्ख को भी कोई कल्याण का मार्ग बताने की कृपा कीजिए।"

इस पर ऋषि ने उसे अर्थ-सहित गायत्री-मन्त्र लिखकर दिया और उससे कहा—"इस मन्त्र और इसके अर्थ को स्मरण कर जाप करते रहो! साथ ही रूई के व्यवहार में सच्चे तथा ईमानदार रहने का प्रण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण हो जायगा।"

सामाजिक दृष्टि से बहुत से ऊंचे व्यक्ति तथा राजा-महाराजा आदि भी जब जिज्ञासु बनकर ऋषि के पास कल्याण-मार्ग पूछने के लिए आया करते थे, उनको भी वह व्यवहार-शुद्धि के साथ साथ गायत्री-मन्त्र-जाप का उपदेश करते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि जैसे आत्मघात करने के लिए मनुष्य के पास एक मामूली-सा नश्तर होना ही काफ़ी है, जिसे गले पर लगाकर वह अपना जीवनान्त कर सकता है, परन्तु दूसरे को मारने के लिए बड़े हथियार की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार किसी व्यक्ति के अपने कल्याण के लिए केवल गायत्री-मन्त्र तथा 'ओ३म्' शब्द का जाप ही पर्याप्त है। जैसे औषधि का चुटकी भर सारे शरीर को नीरोग करने के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है।

प्रभु की समीपता प्राप्त करने के लिए, उस जगन्माता की

पूजा के लिए जहां उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने का शास्त्रों में विधान है, और उसी को राजयोग भी कहा गया है,—वहां गायत्री-मन्त्र के जाप की भी बड़ी महिमा गाई गई है। वेद, शास्त्र, उपनिषद् के अतिरिक्त मनु आदि स्मृति-कारों ने भी गायत्री-जाप के महत्त्व का सेकड़ों स्थानों पर बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया है।

मनु० श्लोक १४७-१४८, अध्याय २—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद्योनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

अर्थात् माता और पिता तो कामवश होकर भी बालक को उत्पन्न करते हैं, इस से जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उसके हस्तपाद आदिक हो जाते हैं। परन्तु सम्पूर्ण वेद का जानने वाला आचार्य इस बालक की विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा जो जाति उत्पन्न करता है, वह जाति सत्य है, अजर और अमर है।

परन्तु जहां हमारी पूजा अर्थात् स्तुति, प्रार्थना और उपासना का ढंग बिगड़ गया, वहां जाप की रीति भी उलटी हो गई। तात्पर्य यह है कि उस जाप के मूल में जो तत्त्व काम करता था, उसे भुला दिया गया। इसलिए, बीज के अनुसार फल की भांति, हमारी प्रभु-भक्ति तथा जाप का वैसा

फल नहीं निकलता, जैसा होना चाहिए था।

एक ओर ईश्वर पूजा भी टके देकर होने लगी और केवल पण्डितों तथा पुरोहितों के सहारे पर ही उसे छोड़ दिया गया, दूसरी ओर गायत्री-जाप भी बिकने लगा। इस प्रकार कल्याण-पथ-प्रदर्शक इस अमूल्य आध्यात्मिक रत्न की भी हमने आटे-दाल की भांति विक्री शुरू कर इसकी दुर्गति कर दी। इसी लिए आज गायत्री का जाप हमें कोई लाभ नहीं पहुंचा रहा। यहां तक कि आर्य सज्जनों के संस्कारों में भी आजकल प्रायः पण्डित ही स्तुति-प्रार्थना आदि मन्त्र-पाठ कर देते हैं। यह उन्हीं का कार्य समझा जाता है। यजमान तथा उनके सम्बन्धी लोग इष्ट-मित्रों के सत्कार तथा उनके साथ बातचीत करने में ही संस्कार की सफलता समझते हैं। ऐसी अवस्था में यजमान को स्तुति प्रार्थना आदि से क्या लाभ हो सकता है। यही कारण है कि वर्तमान संस्कारों से वास्तविक फल प्राप्त नहीं होता है। आज माला तथा तसबीह आदि फेरने वालों की भांति हम आर्य-समाजी भी शब्दमात्र गायत्री का ही जाप करके फल की इच्छा रखते हैं, परन्तु उसका कोई फल नहीं निकलता। इससे निराशा की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है, क्योंकि शब्दमात्र जाप का कहीं भी विधान नहीं है।

वास्तव में आजकल हमारे प्रायः सभी संस्कार, सन्ध्या तथा जाप आदि परमेश्वर के गुणों को धारण करने तथा शक्ति की प्राप्ति की इच्छा से किये ही नहीं जाते, अपितु

व्यवहार की दृष्टि से, लोकलाज, रीतिरिवाज तथा अपने साथियों में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृत विद्या, जिसमें हमारे धार्मिक ग्रन्थ तथा उपासना आदि के मन्त्र हैं, केवल ब्राह्मणों के लिए ही छोड़ दी गई है। दूसरे वर्णों ने अपने लिए संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं समझी। फलतः वे उसके तत्त्व से बिलकुल वञ्चित हो गये हैं।

ऋषि दयानन्द की कृपा से हमारा ध्यान वेदवाणी की ओर आकृष्ट हुआ है और पूजा तथा जाप के मन्त्र भी हमें ज्ञात हो गए हैं, तथापि उन मन्त्रों के अर्थों को न जानने के कारण उनके जाप आदि पर हमारा विश्वास उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण मन्त्रों के पाठ तथा जाप में हमारा मन भी एकाग्र नहीं होता। इस त्रुटि को दूर करने के लिये गायत्री-मन्त्र की महिमा, उसके अर्थों का कुछ स्पष्टीकरण, सर्व-साधारण जनता के सन्मुख रखने की आवश्यकता है, जिससे सर्वसाधारण जनता की रुचि इस ओर बढ़े। उसी दशा में विधिपूर्वक इस पवित्र मन्त्र का जाप कर जनता यथार्थ लाभ उठा कर शान्ति प्राप्त कर सकती है।

प्रभु भक्ति के विषय में हमारी प्राचीन संस्कृति का सब से प्रामाणिक ग्रन्थ महर्षि पतञ्जलि-निर्मित योगदर्शन है। उसमें ऋषि ने जाप के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र लिखे हैं—

१. 'स्वाध्यायात् योगमासीत'

किसी वस्तु को यथातथ्य रीति से जानने और उससे सान्निध्य

प्राप्त करने के लिये सबसे पूर्व उस वस्तु का स्वाध्याय अर्थात् उसके गुणों को जानना आवश्यक है ।

२. "तज्जपस्तदर्थ-भावनम्"

उसके गुणों को समझने के पश्चात् उन गुणों को अपने अन्दर लाने के लिए उसका जाप अर्थ की भावना करते हुए करना चाहिये ।

३. "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः"

स्वाध्याय से अर्थात् उसके गुणों को जानने से अपने इष्ट देवता की प्राप्ति होती है । मनु भगवान् ने भी इस बात को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

"वेद-शास्त्रार्थ-तत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

वेद-शास्त्र के अर्थ का सार जाननेवाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक (जन्म) में ही रहकर मोक्ष (परमानन्द) प्राप्त कर लेता है ।

४. महात्मा बुद्ध अपनी पुस्तक धर्म्मपद के प्रथम प्रकरण में लिखते हैं ।

"जिस अविवेकी भिक्षु धर्म-पद के बहुत से श्लोकों को कंठ कर रखा है । मगर उनके अनुसार कर्म नहीं करता, वह भिक्षु पद का किसी अंश में भी अधिकारी नहीं है । उसका जीवन एक ग्वाले की तरह है, जिसका काम केवल दूसरों की गायों की गिनती करना है ।"

५. महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम जी लिखते हैं।

"केवल शब्द कंठ करने से क्या होगा; अर्थ को देखो, अर्थरूप होकर रहो"

६. श्री भक्त एकनाथ जी—

"शब्द को पीछे छोड़ दो और शब्द के अर्थ में प्रवेश करो। जो जो सुनो वह विनीत होकर, विकल्प को त्याग कर स्वयं हो जाओ।"

७. श्री आद्य शंकराचार्य विरचित, "विवेक चूड़ामणि" पुस्तक

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥ श्लो० ६४ ॥

अर्थ—औषध को पिये बिना केवल औषध शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना केवल 'ब्रह्म' 'ब्रह्म' कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता ॥

अकृत्वा दृश्य-विलयमज्ञात्वा तत्वमात्मनः।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥ श्लो० ६५ ॥

अर्थ—बिना दृश्य प्रपञ्च का विलय किये और आत्मतत्त्व को जाने, केवल बाह्य शब्दों से, जिनका फल केवल उच्चारणमात्र ही है, मनुष्यों की मुक्ति कैसी हो सकती है ॥

अकृत्वा-शत्रु-संहारमगत्वाऽखिलभूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥ श्लो० ६६ ॥

अर्थ—बिना शत्रुओं का बध किये और बिना सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल का ऐश्वर्य प्राप्त किये, 'मैं राजा हूं' ऐसा कहने से ही कोई राजा नहीं हो जाता ॥

८. श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती, हृषीकेश—

Simple parrot-like or gramoponic repeti-❀ tion of a mantra will have little benefit"

"तोते की तरह या ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह किसी मंत्र को बोलने और रटने से कुछ लाभ नहीं होता।"

संसार में जिस वस्तु के गुण विदित हों और निश्चय हो जाय कि यह मेरे लिए लाभकारी तथा कल्याणप्रद है, उस वस्तु के लिए श्रद्धा और प्रेम होने पर उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन अर्थात् तप का अनुष्ठान किया जाता है। जैसे, जब तक किसी पुरुष को यह ज्ञात न हो कि गन्ने के क्या गुण हैं; उससे शक्कर, खाँड आदि भी बन सकती है, तब तक गन्ने की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का कोई पुरुषार्थ वह नहीं करेगा। इसी प्रकार कुनीन या मिर्च के गुण पता होने पर, इन में से लाभदायक वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न किया जाता है, हानिकर वस्तु के लिए नहीं। इसी प्रकार गायत्री-मन्त्र के अर्थ तथा गुणों का ज्ञान होने पर ही उसके लिए श्रद्धा तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होगा और तभी उचित प्रयत्न किया जायगा, जिसके परिणाम-स्वरूप वास्तविक फल की प्राप्ति होगी। यही निराकार ईश्वर की पूजा की पद्धति है इसीलिए आर्य समाज का कर्तव्य है कि वह इस निराकार पूजा को आचरण-रूप से जनता के सम्मुख रक्खे।

पहले कहा गया है कि गायत्री मंत्र को ऋषि-मुनियों ने

❀ Yog—Vidauic Rambles P. 98

गुरुमन्त्र, वेद का सार, सावित्री माता और पतितपावनी कहा है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

(१) भारतीय आर्य जनता में यज्ञोपवीत-संस्कार बड़े महत्व का गिना जाता है। इस संस्कार के समय शास्त्र के आदेशानुसार गुरु शिष्य को इसी मन्त्र काउपदेश करता है। इस लिए सर्वोत्तम यही गुरुमन्त्र है।

(२) सन्यास-आश्रम में प्रवेश करते हुए नाभिपर्यन्त जल में खड़े होकर सन्यासी, "ओ३म् भूर्भुवः स्वः । सावित्री प्रविशामि" इसका बार बार पाठ करता है। अर्थात् वह प्रतिज्ञा करता हुआ कह रहा है कि आज मेरी माता सावित्री है।

(३) वेद में ऋग्, यजुः तथा साम अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा उपासना का विधान है, हम इसी को स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना नाम से भी पुकारते हैं और इसी मन्त्र में उपर्युक्त बात सार-रूप से, जितनी मनुष्य के कल्याणार्थ आवश्यक है, बताई गई है, अतएव इस मन्त्र को वेद का सार कहा गया है।

(४) जब राक्षसों से यज्ञ की रक्षार्थ वन ले जाते समय श्रीरामचन्द्र जी ऋषिवर विश्वामित्र के साथ सरयू नदी के तट पर ठहरे थे, तब प्रातः होने पर सन्ध्या समय ऋषि ने उनको उठा कर कहा—

"कौशल्यासुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यम् दैवमाह्निकम् ।

तस्यर्षे: परमोदारं वच: श्रुत्वा नरोत्तमौ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जपेतु: परमं जपम् ॥"

"राम, तू सुपुत्र है, अत: अब निद्रा उचित नहीं। अपना नैत्यिक कार्य कर। यह सुन दोनों भाई आचमन कर गायत्री जाप में तत्पर हो गए।"

(५) महाभारत में लिखा है कि जब श्री कृष्ण सन्धि के उद्देश्य से हस्तिनापुर जा रहे थ, तब मार्ग में उन्होंने रथ से उतर कर शौच आदि के बाद यथाविधि संध्या की--

अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविवेश ह ॥ उ० ८४।२१ ॥

उसके बाद हस्तिापुर पहुँच कर वह स्नान, हवन और जाप कर कौरवों की सभा की ओर रवाना हुए।

कृतोदकानुजप्य: स हुताग्नि, समलंकृत: ॥ उद्योग ६४।६ ॥

(६) गीता में भी भगवान् कहते हैं कि "छन्दों में मैं गायत्री हूं"। इससे विदित होता है कि श्रीराम और कृष्ण जैसे महान् पुरुष भी, जिनको लोगों ने ईश्वर का अवतार तक समझा, इस मन्त्र का जाप करना आवश्यक समझते थे। अत: हमें विश्वास करना चाहिए कि इस मन्त्र में कोई विशेष रहस्य छिपा हुआ है।

(७) श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने अमेरिका में गायत्री-मन्त्र पर एक भाषण दिया था। जिसका सारांश यह था— "हिन्दू मूर्तिपूजक न थे, क्योंकि उनका ध्येय (creed) मन्त्र

गायत्री मन्त्र है, इस मन्त्र में "तत्" (वह) शब्द ही एक परोक्ष (invisible) सृष्टिकर्ता अर्थात् सविता की ओर संकेत करता है। कई लोग इस मन्त्र को सूर्य की उपासना-परक बतलाते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि "सविता" शब्द सृष्टिकर्ता ईश्वर की उपासना के लिए है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में ज्ञान और बुद्धि के लिए प्रार्थना है, जोकि जड़ सूर्य कभी नहीं दे सकता। साथ ही एक विशेष बात यह है कि इस मन्त्र में "नः" शब्द समाज का वाचक है, अर्थात् स्त्री, पुरुष, शूद्र आदि मनुष्य-मात्र को इसके जाप का अधिकार है।"

इससे विदित होता है कि हमारे पूर्वज मूर्तिपूजक नहीं थे। वे निराकार ईश्वर के ही पूजक थे और उनकी निराकार पूजा का मुख्य साधन गायत्री-मन्त्र था और मनुष्य-मात्र को गायत्री-जाप का अधिकार प्राप्त था।

(८) सर मोनियर विलियम (Sir Moniar William) अंग्रेजी के एक प्रख्यात लेखक हैं। उन्होंने अपनी "दी बुद्धिज्म (The Buddhism) नामक पुस्तक में गायत्री-मन्त्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित सम्मति दी है--

"ईसाई-धर्म ईसा के बिना कुछ नहीं, मुस्लिम-धर्म हजरत मुहम्मद के बिना कुछ नहीं, बौद्ध-धर्म महात्मा बुद्ध के बिना कुछ नहीं, यही पुरुष उनके ध्येय अथवा प्राण हैं, परन्तु मुझे सत्य कहने में संकोच नहीं, यद्यपि मैं ईसाई हूं। हिन्दुओं का ध्येयमन्त्र गायत्री है, जो बिना किसी ऋषि-मुनि या महान् पुरुष

के जीवित रह सकता है। हिन्दू-धर्म का आधार किसी विशेष मनुष्य पर नहीं है। इस मन्त्र के द्वारा सीधा परमेश्वर से हर एक मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है"*

(६) बुद्ध भगवान् ने "सुत्तनिपात" में ब्राह्मणों के कर्म-विधान का कार्य वर्णन करते हुए वेद को मुख्यता दी और वेदाध्ययन में गायत्री-मन्त्र पर भी विशेष बल दिया है।

वर्तमान समय के बहुत से स्त्री-पुरुष, निरन्तर कई वर्षों से, लगातार सहस्रों की गिनती में गायत्री-मन्त्र का पाठ करते हैं, अनेक सज्जन प्रतिदिन जल में खड़े होकर गायत्री-मन्त्र का हजार बार जाप किया करते हैं, परन्तु उनके जीवन में कोई विशेष परिवर्तन न स्वयं उन्हें अनुभव होता है और न दूसरों को ही। हम देखते हैं कि हमारे पण्डित, पुरोहित, तथा उपदेशक आदि, जो संध्या तथा गायत्री पर व्याख्यान देते तथा स्वयं भी इस मंत्र का जप करते हैं, लाभालाभ, मानापमान, संयोग-वियोग आदि परिस्थितियों में साधारण पुरुषों के समान आचरण करते हैं। उनकी यह दशा देख एक जिज्ञासु का हृदय भी श्रद्धा और प्रेम से आप्लावित होने के स्थान पर सन्देह में पड़ जाता है। इन परिस्थितियों का सब से अधिक चिन्ताजनक परिणाम यह हो रहा

---

*इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि विदेशी विद्वान् भी इस गायत्री-मन्त्र की कितनी प्रशंसा करते हैं और मनुष्य के कल्याण के लिये इसे कितना श्रेष्ठ मानते हैं। (चि०)

है कि नवशिक्षित समुदाय की इस ओर से आस्था ही नष्ट हो गई है।

वे तो अब यहां तक कहने लगे हैं कि संस्कार, संध्या, गायत्री मन्त्र आदि वैदिक, तथा संस्कृत श्लोकों के जाप आदि के स्थान पर अपनी मातृभाषा में ही उपासना, प्रार्थना आदि किये जावें। परंतु निम्नलिखित कारणों से उपर्युक्त विचार बहुत दोषपूर्ण है-

(क) गायत्री-मन्त्र को वेद का सार कहा गया है। सावित्री माता और पतितपावनी आदि विशेषण इसके साथ, महात्मा लोगों ने तथा प्रभुभक्तों ने लगाये हैं। इन सब विशेषणों की पुष्टि गायत्री-मन्त्र अपने आप करेगा, जैसा कि आगे चलकर इसका व्याख्यान किया जावेगा। परन्तु जिज्ञासुओं में गायत्री के जाप के लिये रुचि पैदा करने के विचार से थोड़ा-सा दिग्दर्शन यहां भी, केवल इस बात का किया जाता है कि गायत्री-मन्त्र वेद का सार कैसे है।

इस जगत के रचयिता ईश्वर ने वेद का ज्ञान आदि सृष्टि में किसके लिये दिया है? मनुष्यों के लिये। और क्यों दिया है? मनुष्यों के कल्याण के लिये। अर्थात् जीवों ने जो अज्ञानवश उलटे कर्म करके अपने लिये दुःख के साधन एकत्रित कर लिये हैं, जिनको वे कई योनियों में भोगते हैं, वे जीव मनुष्य-योनि में आकर ज्ञान को प्राप्त करें, ज्ञानपूर्वक और बुद्धि पूर्वक काम करने का अभ्यास करें, दुःखों से रहित होकर सुख को प्राप्त करें। सुख की उपासना करना सीखें और निरन्तर सुख वा आनन्द के अन्दर बैठ जावें। इसी को मुक्ति और नजात भी कहा गया है। इसी

लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वेद का विषय ज्ञान, कर्म उपासना है।

इसी का इस प्रकार भी वर्णन किया जा सकता है कि ईश्वर सत् चित् आनन्द है। जीव सच्चित् है, परन्तु आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण नहीं। यही जीव में न्यूनता है, और इसी न्यूनता को पूरा करने के लिये ही, इसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न अर्थात् कर्म करना है। सांसारिक माता-पिता की तरह ईश्वर का लक्ष्य वेद-रूपी ज्ञान देने का यह है कि जीव-रूपी सन्तान उसके समीप आकर निरन्तर आनन्द को प्राप्त करें, जो कि उनको और कहीं नहीं मिलता, या प्रकृति के संग से नहीं मिलता है, वह दुःख से मिला हुआ सुख है तथा क्षणिक भी है। इस लिए वेद का मुख्य लक्षण ईश्वर प्राप्ति कहा और माना गया है।

अब देखना यह है कि ईश्वर किन गुणों के कारण आनन्द का स्रोत है, ताकि जीव भी उन गुणों को यथाशक्ति धारण करे, और यथाशक्ति बहुत देर तक उस स्रोत में डुबकी लगाकर रहे, अर्थात् उसी का रूप होकर रहे, जिसका दूसरा नाम मुक्ति या नजात है। और ये गुण गायत्री के जप से कैसे प्राप्त होते हैं, जिनका साधन वेद का त्रिपय ज्ञान, कर्म, उपासना है।

१. ईश्वर प्रेम का स्रोत है तथा पुञ्ज है। और जहां निरन्तर प्रेम है, वहां निरन्तर सुख है।

२. ईश्वर पवित्रता का स्रोत तथा पुञ्ज है। जहां निरन्तर पवित्रता है, वहां ही निरन्तर आनन्द है सुख है।

३. ईश्वर सत्य स्वरूप है, और जहां निरन्तर सत्य है, वहां ही निरन्तर सुख है।

४. ईश्वर ज्ञान, बुद्धि का भण्डार है, उसके सब काम ज्ञान, और बुद्धिपूर्वक हैं और इसी लिए नियमपूर्वक हैं। ईश्वर में अज्ञान का लेश भी नहीं। और जहां ज्ञान, बुद्धि, वा नियमपूर्वक कर्म हों वहां ही निरन्तर आनन्द होगा।

५. ईश्वर प्रकाशस्वरूप है। उसके सारे गुण, कर्म स्वभाव प्रकाशयुक्त हैं। वहां कुछ छिपाव-लुकाव नहीं और जहां निरन्तर प्रकाश होगा, वहां ही सुख होगा, इत्यादि।

अतः अब जीव के लिये आनन्द-प्राप्ति, ईश्वर-प्राप्ति व मुक्ति-रूपी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से यह आवश्यक हुआ कि ऊपर कहे ईश्वर के कुछ गुणों को वह यथाशक्ति प्राप्त करे। और यह भी सिद्ध हुआ कि इन गुणों का जीव को प्राप्त कराना वेद का लक्ष्य है और इन सब गुणों की प्राप्ति ज्ञान के बिना हो नहीं सकती। यहां ज्ञान से तात्पर्य केवल पुस्तक ज्ञान नहीं, शब्द ज्ञान नहीं, अपितु विज्ञान भी है, क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान को ही शास्त्र ज्ञान कहते हैं, जिसका फल कर्म और फिर विज्ञान है। शेष सब अज्ञान है, अर्थात् अल्प ज्ञान है।

ज्ञान के लिए दूसरा शब्द स्तुति हो सकता है। तात्पर्य यह कि इन गुणों को निरन्तर स्मरण करके, विचार व मनन करके और यह जान कर कि मेरी न्यूनता मेरे में इन गुणों के न होने अथवा न्यून होने के कारण है और मेरा लक्ष्य इनको

अपने अन्दर लाने से सिद्ध होता है, और वे गुण अभ्यास से ही आते हैं, जिसका दूसरा नाम कर्म कहा जा सकता है।

ईश्वर के इन गुणों का स्मरण करना या स्तुति करना अथवा इन गुणों के स्रोत से गुणों के मांगने के लिए प्रार्थना करना, व इन गुणों के धारण करने योग्य अपने को बनाना ही सब से उत्तम कर्म है। फिर इसी ईश्वर-स्तुति का अभ्यास-रूपी कर्म से उपासना, अर्थात् इन गुणों का जीव के अन्दर आ जाना ही, फल-रूप प्राप्ति होती है। और यही मनुष्य का और वेद का लक्ष्य है।

गायत्री-मन्त्र में क्योंकि जीव के जानने योग्य, जिस से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके, पहले आठ शब्दों में ईश्वर की पर्याप्त स्तुति की गई है, जिनका अर्थ-सहित, जैसा कि आगे बताया जावेगा, जाप करने से अथवा ईश्वर की स्तुति करने से ईश्वर के ऊपर बतलाये गुणों का, जिनके कारण कि वह आनन्द का स्रोत है, पर्याप्त शिक्षा मिल सकती है। और उनका ज्ञान प्राप्त करके जिज्ञासु की ज्ञानपूर्वक कर्म करने में अपने आप प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, जिसके फलस्वरूप विज्ञान और उपासना में सफलता होती है, यही लक्ष्य गायत्री के जाप से प्राप्त होता है। क्योंकि स्तुति के आठ शब्दों के पश्चात् 'धीमहि' का तात्पर्य ही ज्ञानपूर्वक कर्म करना है, क्योंकि किसी गुण का ध्यान करना—स्मरण करना व उस गुण को प्राप्त करने का वास्तविक अर्थ उन गुणों काअभ्यास

या कर्म करके जीवन में धारण करने का है, (कर्म का तात्पर्य वेद में शुभकर्म है, शेष अकर्म हैं, या विकर्म है, 'अर्थात् उल्टे कर्म या अज्ञानपूर्वक कर्म कहे गए है, जिनका फल दुःख होता हैं)। अन्त में 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का तात्पर्य ही ईश्वरीय बुद्धि अर्थात् प्रज्ञाबुद्धि को प्राप्त करना है, जो कि ज्ञान और कर्म से प्राप्त होती है। जिसका फल सदा आनन्द होता है। अर्थात् प्रकृति को छोड़ कर ज्ञानस्वरूप, बुद्धि के भण्डार ईश्वर को प्राप्त करना। यही उपासना का तात्पर्य है जो कि गायत्री के जाप का फल हैं। इसीलिए गायत्री को वेद का सार कहा गया है। क्योंकि (१) बुद्धि या ज्ञान की अत्यन्त शुद्धि को सत्य कहते हैं और सत्य ही ईश्वर है। (२) भावना की अत्यन्त शुद्धि को अहिंसा कहते हैं अर्थात् पूर्ण प्रेम और पूर्ण शुद्धि ही ईश्वर है। जीव जितना जितना इन गुणों को धारण करेगा, उतना उतना वह सुख प्राप्त करेगा और जब वह इन गुणों का रूप हो जावेगा (जैसे लोहा अग्नि में) वही मुक्ति की अवस्था होगी, या ईश्वर-प्राप्ति की। और इस कार्य में गायत्री-मन्त्र समर्थ है। इसी प्रकार मन की पवित्रता के लिये भी गायत्री-मन्त्र में पर्याप्त साधन, सामग्री (ज्ञान, सत्संग, स्वाध्याय, सेवाधर्म, दुष्ट-विचारों की निवृत्ति तथा ईश्वर उपासना आदि) जीव की शिक्षा के लिये विद्यमान हैं। जिनकी व्याख्या आगे की जावेगी।

(ख) ऋषि दयानन्द ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वेदों को जर्मनी से

मंगाकर पुनः उनकी मान-प्रतिष्ठा हिन्दू-समाज में कायम की। यह इसी कारण कि मूलवेदों को वह मनुष्य-समाज की सर्व-श्रेष्ठ निधि मानते थे। संस्कार, संध्या आदि वर्तमान भाषाओं में शुरू हो जाने पर मूल वेदों की महत्ता को लोग भूल जायेंगे और सारी जिम्मेवारी आर्यसमाज पर होगी, क्योंकि वही ऋषि का प्रतिनिधि है।

(ग) दृष्टान्तरूप से हम मूल वेदों को गेहूं और उनके विभिन्न अनुवाद को दलिया, आटा, रोटी आदि कह सकते हैं। जिस तरह गेहूं का बीज पास होने पर हम उससे पूरी, मालपूआ, दलिया या रोटी आदि जो कुछ भी चाहें बना सकते हैं। परन्तु यदि हमने गेहूं को पीस कर उसकी रोटियां ही बना लीं, तो हम उससे और कुछ भी नहीं बना सकेंगे। दूसरी चीजें बनाने का हम मार्ग ही बन्द कर लेंगे। ठीक इसी प्रकार वैदिक भाषा के जो मन्त्र हमारे ज्ञान के अधार हैं, उनको छोड़ हिन्दी को अपनाना, गेहूं की रोटियां पका कर अपने पास रख लेने के समान है।

इसी भावना को लेकर कुछ नवयुवक महात्मा गांधी जी के पास गये। परन्तु महात्मा जी ने इस प्रस्ताव का यही उत्तर दिया कि संसार में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं, जो पूर्ण रीति से वेद मन्त्रों का व्याख्यान अपनी भाषा में कर सके, अतः इस मूल को वैसा ही रहने दो और अपनी वाणी में भी प्रार्थना करते रहो।

इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह है कि जब कोई जिज्ञासु हमारे पास आता है तो हम किसी शब्द को कोष में देखकर उसका अर्थ बताने के समान पुस्तकपठित अर्थ बता देते हैं। उस पर हमारा अपना कोई अनुभव नहीं होता और प्रायः हम उसको शब्दपाठ, जाप का ही उपदेश देते हैं जो कि प्रभुभक्ति के लिए प्रथम सीढ़ी है और क, ख, ग पढ़ने के समान है। जैसे वर्षों तक पहली सीढ़ी पर ही बैठे रहने वाला पुरुष मकान के ऊपर नहीं पहुँच सकता तथा वर्षों तक क, ख, ग पढ़ने वाला विद्यार्थी कभी ज्ञानी नहीं बन सकता, और अपना लक्ष्य प्राप्त न होने से उसे कोई आनन्द नहीं अनुभव हो सकता, वैसे ही शब्दमात्र के जाप से कोई वास्तविक लाभ नहीं होता।

उचित यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानव-जीवन से वास्तविक लाभ उठाने के लिए किसी एक मन्त्र को तो सजीव बना ही ले। जैसे एक माली भूमि खोदकर उसमें विविध भाँति के पौधे तो लगा दे, किन्तु वह किसी एक पौधे को भी इस योग्य न बनाए कि उसके द्वारा उसका निर्वाह चल सके अथवा उसकी अपनी उदरपूर्ति हो सके, तो उसका सारा परिश्रम अपने लिए निष्फल हो जायगा और अन्त में पश्चात्ताप के सिवाय उसके हाथ कुछ भी न लगेगा। ठीक इसी प्रकार चारों वेदों का पण्डित होने पर भी तथा विविध शास्त्र कण्ठस्त कर लेने पर भी यदि एक विद्वान किसी एक

मंत्र को भी सिद्ध न करे तो उसे अपनी विद्वत्ता से कोई आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा। शब्द की खेती ने कभी किसी को फल नहीं दिया। व्याकरण का ज्ञाता यदि उसका उपयोग नहीं करता, तो वह केवल भाररूप ही है, उससे उसको लाभ कोई नहीं। हजारों बुझे हुए दीपक एक बुझे हुए दीपक को जलाने में समर्थ नहीं हो सकते परन्तु एक प्रकाशित दीपक हजारों दीपकों को जला सकता है इसी प्रकार जो व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) एक भी मंत्र का साक्षात्कार कर लेता है वह जहां अपने आप उन्नत एवं विज्ञानशील बन जाता है, वहां दूसरों को भी प्रकाशमान कर उनका कल्याण कर सकता है। वेद में ठीक कहा है--"अग्निना अग्नि: समिध्यते '।

इसी प्रकार यदि हम लोग इस परम पावन मन्त्र को सजीव (सक्षात्) कर लें तो हमारा तथा हमारी जाति का कल्याण हो सकता है और क्रमश: संसार में वह अवस्था आ सकती है, जिसके लिए भारतवर्ष तथा अन्य देश लालायित हैं। 'अग्नि' शब्द हमने कागज़ पर लिख दिया, उसके अर्थ भी हमें मालूम हैं, किन्तु यह लिखा हुआ अथवा उच्चारण किया हुआ 'अग्नि' शब्द न तो कागज़ को जलाने में समर्थ है और न वह हमारे मुंह को, जिससे हम 'अग्नि' शब्द उच्चारण करते हैं, गरमी पहुंचा सकता है। अग्नि का नाम लेना सरल है परन्तु नाममात्र से सर्दी दूर नहीं होती तथा उष्णता नहीं आती, रोटी नहीं पकती और न प्रकाश ही हो सका है। परन्तु वह अग्नि

जो कि दियासलाई में प्रच्छन्न है, रगड़ने तथा अनुकूल साधन, अर्थात् शुष्ककाष्ठ आदि उपस्थित होने पर ही जलेगी, जिससे प्रकाश होगा और जिससे भोजन पका कर हम अपनी क्षुधा निवृत्ति कर सकेंगे। इसी प्रकार किसी मंत्र के वास्तविक अर्थ को जान कर, निरन्तर स्मरण द्वारा उसको कभी न भूलने वाला बना कर (अर्थात् उसके अर्थ की भावना को अपने लिए सदा सजीव बनाकर) और उसके भाव को आचरण में चरितार्थ कर ही हम लाभान्वित हो सकते हैं और यही किसी मन्त्र का सच्चा जाप है।

जैसे शरीर में जीवात्मा के होने से ही शरीर की शोभा है और जीव के कारण ही शरीर की स्थिति है अन्यथा शरीर में रङ्ग, रूप, रस, आकर्षण, प्रेम तथा पवित्रता आदि कोई भी गुण नहीं रह सकता, ऐसे ही शब्द और अक्षर तो शरीर के समान हैं और अर्थ उसकी आत्मा के समान है। अर्थ के बिना अक्षर या शब्द से कोई लाभ नहीं, कोई शोभा नहीं। केवल शब्द से आत्मिक तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस गायत्री-मन्त्र को सजीव करना एक जिज्ञासु का परम कर्तव्य है अर्थात् अर्थसहित, निरन्तर, नियत समय पर तथा श्रद्धा से इसका जाप करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है—जैसे एक शरीर के अन्दर आत्मा तो विद्यमान है, शरीर जिन्दा है, साँस लेता है, परन्तु वह जागता नहीं, हर समय सोया

रहता है, अथवा वह आलसी है या निःशक्त है। ऐसा जीवन मरे हुए के समान ही है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपने जीवन को पराश्रित बना उससे कोई लाभ नहीं उठा सकता। इसी प्रकार मन्त्र के अर्थ जान कर या इसके अर्थ को स्मरण करके हमें अपने को उपर्युक्त मनुष्य की भाँति केवल जिन्दा नहीं करना, अपितु उस ज्वाला को निरन्तर प्रज्वलित करना है, जैसे एक माता भोजन बनाते समय निरन्तर ध्यानपूर्वक अग्नि को एक रस जलाये रखती है और तब तक निरन्तर जलाये रहती है जब तक कि भोजन को पूर्ण ताप पहुंचा कर वह उसे परिपक्व अवस्था में न ले आए। इसी प्रकार इस मन्त्र को भी सजीव करना ही लाभप्रद है। एक अंगरेज़ लेखक ने कहा है—

"To reach the port of Heaven you should sail, not drift or lie-at-anchor."

अर्थात् "स्वर्गरूपी बन्दरगाह तक पहुंचने के लिए तुम्हारे जहाज़ को गन्तव्य स्थान की ओर बराबर बढ़ते रहना चाहिए, न कि कभी इधर और कभी उधर बह जाना या लंगर डालकर खड़े रहना।"

गायत्री-जाप-विधि

गायत्री-मन्त्र के शुद्ध-पाठ का अभ्यास कर, उसका शब्दार्थ समझ लेने के पश्चात् उसके भाव को हृदयंगम करते हुए उसका जाप करना चाहिए। इस मन्त्र में ईश्वर की स्तुति के लिए जो शब्द आये हैं, उसको बार-बार तथा निरन्तर एकान्त में बैठ कर अनुभव करना चाहिए अर्थात् एक-एक शब्द को लेकर, परमात्मा के जो गुण उसमें बताए गए हैं, उनकी वास्तविक रूप से अनुभूति करनी चाहिए। उसके संबन्ध में जब तक निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न न हो, तब तक स्वयं अपने मन से उन संन्देहों का उत्तर मांगने का प्रयत्न करना चाहिए, और यदि स्वयं सन्देह निवारण न हो सके तो अन्य किसी साधु, ज्ञानी या महात्मा से वह सन्देह दूर करना चाहिए संशय के रहते हुए उन गुणों से किसी प्रकार का प्रेम न ह सकेगा। साधक के लिए इन गुणों का चिन्तन उस सीमा तक नितान्त आवश्यक है, जब तक उसको यह प्रतीत न हो कि मन्त्र में वर्णित परमात्मा के गुण उसमें आने लग गये हैं। इन गुणों के आने पर आत्मा स्वयं अनुभव करने लगता है तथा अन्य व्यक्ति भी इस तरह के साधक की प्रत्येक बात में स्पष्ट परिवर्तन देखते हैं। जैसे रेल के इंजन में जब तक २१२ डिग्री की स्टीम (भाप) पैदा न हो जाय, तब तक उसमें गति नहीं आती और इस शक्ति को पैदा करने के लिए

उसके योग्य सामग्री उसे बराबर देते चले जाते हैं। और जब इंजन की शक्ति उक्त सीमा तक पहुँच जाती है तब ड्राइवर उसे देख ही लेता है, साथ ही बाहर के लोग भी, उसकी गति को देखकर उसके चलने की शक्ति का अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रकार साधक पुरुष को उस सीमा तक लगातार जाप करना उचित है, जब तक वह अपने में कोई विशेष शक्ति आई हुई न देखे। एक बार अपने में किसी विशेष शक्ति और परिवर्तन का अनुभव होने पर साधक में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और उसके बाद वह लगातार अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करता रहता है।

लोग समझते हैं कि इस कार्य में बहुत समय लगता है और यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। परन्तु नीचे लिखे उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह कार्य कोई बहुत कठिन तथा बहुत अधिक समय लेने वाला नहीं है। जैसे चार-पाँच बरस का एक बालक अपनी अनपढ़ माता को बार-बार 'आग", "पानी" आदि कहते और इन शब्दों का प्रयोग करते सुनकर स्वयं समझ जाता है कि अग्नि और जल क्या चीज़ें हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थों की वह निश्चयात्मक अनुभूति कर लेता है। अब यदि आप उसके सामने गलती से भी 'अग्नि' शब्द का उच्चारण कर दें, तो वह दूसरी वस्तु की ओर इशारा नहीं करेगा, वह उससे "आग" ही समझेगा। वह यह भी जान जाता है कि आग से प्रकाश

और ताप आदि मिलते हैं तथा पानी से शीतलता प्यास बुझना, तरलता आदि प्राप्त होते हैं। यद्यपि अभी तक उसको तथा उसकी अनपढ़ माता को अग्नि आदि शब्द के अक्षरों तथा उनके यौगिक अर्थों का ज्ञान नहीं। 'अग्नि' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ 'ईश्वर' भी है. यह अर्थ न उस बच्चे को पता को पाता है और न वह स्वयं उसे जानता है। सम्भव है उसकी माता तथा स्वयं उसने भी, कभी किसी सत्संग में 'अग्नि' का यह आध्यात्मिक अर्थ सुना हो, परन्तु उसकी माता ने इस अर्थ का अनुभव करने के लिये अभ्यास नहीं किया। इसलिए 'अग्नि' शब्द सुनकर उसे कभी 'परमात्मा का ध्यान नहीं आएगा सिर्फ 'आग' का ही ध्यान आयेगा।

तो क्या गायत्री में ईशस्तुति के लिए आये हुए 'भूः' आदि आठ शब्दों का साक्षात्कार कोई अत्यन्त कठिन कार्य है? खास तौर से जब कि हम सतत प्रयत्नपूर्वक अध्ययनशील रहे हों, हमारा दृष्टिकोण तार्किक या बौद्धिक रहा हो, और यूनिवर्सिटियों की बड़ी बड़ी परीक्षाएँ पास कर चुके हों, इन परिस्थियों में एक अध्ययनशील साधक विचार कर सकता है कि इन आठ शब्दों के साक्षात्कार में उसे कितना समय लगेगा। इसलिए जिज्ञासु को इन आठ शब्दों के अर्थों की ऐसी अनुभूति कर लेनी चाहिए, जैसे सुगन्धि आते ही फूल का ध्यान आ जाता है, या किसी अपने मित्र का नाम लेते ही उसका स्मरण हो आता है। गायत्री-जाप की यही विधि हमारे पूर्वज वर्ता करते थे और यही साधन इन अमत-भरे शब्दों को सजीव करने का है।

"ओ३म्" नाम की महिमा।

गायत्री-मन्त्र का पहला शब्द 'ओ३म्' है जो ईश्वर का सब से मुख्य और सब से महत्वपूर्ण नाम है। शेष सब नाम—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि—गौण हैं, अर्थात् किसी सम्बन्ध या गुण से रखे गये हैं, जैसे, शिव से कल्याण करने वाला, विष्णु से व्यापक तथा ब्रह्मा से महान्। 'ओ३म्' की महिमा का वर्णन वेद, शास्त्र तथा उपनिषद् आदि ग्रंथों में जगह-जगह पर आया है। यह शब्द अ-उ-म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बनता है। ऋषि दयानन्द ने 'ओ३म्' के अर्थ इस प्रकार किये हैं—अ-से विराट, अग्नि तथा विश्व आदि, उ-से हिरण्यगर्भ, वायु तथा तेज आदि, म-से ईश्वर, आदित्य तथा प्राज्ञ आदि। यदि इन शब्दों की व्याख्या का विस्तार किया जाय, तो परमेश्वर-वाचक कोई शब्द भी बाकी नहीं रह जायगा। जैसे, एक रुपये की दो अठन्नियाँ, चार चवन्नियाँ, आठ दुअन्नियां, सोलह आने, बत्तीस टके तथा चौंसठ पैसे आदि होते हैं और व्यवहार में वे सब रुपया या उसके

भाग के स्थान पर चलते हैं, कोई उनके लेन-देन से इनकार नहीं करता. इसी तरह 'ओ३म्' के अतिरिक्त जितने भी शब्द हैं, वे सब इसी एक शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि सारे गुणों का समावेश इसी के अन्दर हो जाता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि अकार के विराट् आदि अर्थ इकार आदि से ही क्यों न लिये ? तथा ओम् शब्द के अन्दर सारी सृष्टि कैसे आ जाती है ? इसका विस्तार से व्याख्य न तो माण्डूक्य उपनिषद् में किया गया है। बुद्धिमान् जिज्ञासु वहाँ से पढ़ सकते हैं। परन्तु संक्षिप्त व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है ।

'ओम्' शब्द का वह स्थूल अर्थ, जिसे एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है तथा प्रतिक्षण स्मरण भी रख सकता है, इस प्रकार है–'अ' से सृष्टि की उत्पत्ति, 'उ' से स्थिति (विस्तार) और म्' से प्रलय अर्थ अभिप्रेत है। इस अर्थ का भास 'ओम्' शब्द के उच्चारण से हो सकता है, जैसे 'अ' के कहने से मुंह खुल जाता है, 'उ' से उसका विस्तार "जन्माद्यस्य यतः" इस वेदान्त सूत्र का द्योतक है। यह शब्द उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले पदार्थ का नाम स्वयं भासित कर रहा है। अन्य कोई भी परमेश्वर का नाम इस प्रकार का नहीं, जो इन तीन गुणों को एक साथ प्रकट करता हो। इसको आप निम्न मानचित्र से ठीक समझेंगे । यह

मानचित्र माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर बनाया गया है—

अक्षर	जगत् की	अक्षर उच्चारण	शरीरावस्था	ब्रह्मांड की अवस्था	लोक	लोक देवता	सृष्टि की अवस्था स्थूल	सूक्ष्म	कारण
अ	उत्पत्ति	मुँह का खुलना	जागृत	स्थूल	पृथिवी	अग्नि	विराट्	अग्नि	विश्व
उ	विस्तार स्थिति	विस्तार	स्वप्न	सूक्ष्म	अन्तरिक्ष	वायु	हिरण्य गर्भ	वायु	तेज
म्	प्रलय	सुपुप्ति	सुपुष्ति	कारण	द्युलोक	आदित्य	ईश्वर	आदित्य	प्राज्ञ

इन उपर्युक्त अवस्थाओं को लाने वाला इन सब शक्तियों तथा तीनों लोकों का नियन्ता और मालिक होने से विराट् आदि अर्थ अ, उ, म् से लिये गये हैं। ये अर्थ बुद्धिपूर्वक और युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं और इसी आधार पर ऋषि दयानन्द ने ये अर्थ सत्यार्थ-प्रकाश में लिखे हैं। ओम् शब्द का धात्वर्थ इस प्रकार है--

अ—आप्लृ व्याप्तौ, आदि और आप्ति। अर्थात् स्थूल सृष्टि का प्रकाश तथा आरम्भ, जिसमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी जल, ओषधि, चर-अचर, प्राणी-अप्राणी आदि सम्पूर्ण दृष्टिगोचर जगत् का प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् विश्व की सम्पूर्ण शैशवावस्था का अभिप्राय इस शब्द से है।

उ—उत्कर्ष या उभय का आदि 'उ' स्वर है, जिसके अर्थ

बढ़ना, ऊपर की ओर खींचना, निकलना तथा वृद्धि है। जिसका अभिप्राय युवावस्था से है।

म्—मा धातु, म् हल् रूप हैं। जिसके अर्थ ज्ञान तथा लय करना है, वह इसी को सुषुप्ति, आनन्द की अवस्था, सृष्टि की कारणावस्था, शरीर का बुढ़ापा अथवा मृत्यु की अवस्था भी कह सकते हैं। अभिप्राय समाप्ति से है।

पतञ्जलि ऋषि ने अव रक्षण इत्यादि अर्थक धातु से "अवतीति ओ३म्" आदि २२ अर्थ किए हैं। यदि उन अर्थों के धातु बनाये जायं और तब उनके अर्थ किये जायं और इसी प्रकार यह क्रम जारी रक्खा जाय, तो परमात्मा का कोई भी नाम इस नाम के बाहर नहीं रह जायगा। इसी प्रकार भारतीय आर्य-साहित्य में यह ओम् नाम सर्वोत्कृष्ट गिना गया है। अतः इसका जाप करना मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है।

नीचे लिखे उदाहरण से 'ओ३म्' नाम के जाप की महत्ता सिद्ध हो जायगी—

१. यजुर्वेद ४० वें अध्याय में—"ओ३म् क्रतो स्मर" मन्त्र में ओ३म् के जाप का ही विधान है।

२. कठ उपनिषद् में कहा गया है—"सर्वे वेदाः यत्पद-मामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्म-चर्यं चरन्ति; तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"॥

अर्थात् "जिस शब्द की महिमा सारे देश गाते हैं, तपस्वी जिसका वर्णन करते हैं और ब्रह्मचारी जिसके लिये घोर तपश्चर्या करते हैं, वह शब्द केवल "ओम्" ही है।"

उपनिषदों में उद्गीथ (जा गाया जाय) अक्षर, प्रणव तथा ब्रह्म इसी ओम् शब्द को कहा गया है।

३. मुण्डकोपनिषद्—२-२ खंड।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः।

स एषो अन्तश्चरते बहुधा जायमानः॥

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनं।

स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥

अर्थ—रथ की नाभि-धुरे में अरों की भांति जिस हृदय देश में सब नाड़ियां आश्रित हैं, यह अनेक प्रकार से प्रकट होने वाला परमात्मा उसी हृदय देश के भीतर विचरता है, उस परमात्मा का 'ओम्' इस प्रकार से ध्यान करो। अन्धकार से पार होने के लिये यह 'ओम्' का ध्यान तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो।

४. स्वामी रामतीर्थ ने एक जगह कहा है—

"विज्ञान पर धिक्कार है, यदि वह पवित्र शब्द ओम् के प्रभाव सम्बन्धी सत्य के विरुद्ध जाता है।"*

एक और जगह उन्होंने कहा है—

'वह सुखी है जो कि ओम् में निवास करता है, ओम् में मति करता है और 'ओम्' में ही अपनी सत्ता रखता है। यदि मनुष्य चाहे कि यह खज़ाना (कोष) मेरे पास आ जावे

---

*"Woe unto science, if it goes agaainst the truth connected with tqe effcacy of the sacred syllable Aum."

— *Heart of Ram.*

या स्वर्ग का राज्य मेरे लिये खुल जावे तो इस 'ओ३म्'-रूपी चाबी से उसे स्वर्ग के ताले खोलना चाहिये।"†

५. गुरु नानकदेव का कथन है—

"एक ओंकार, सत् नाम, कर्ता पुरुष, निर्भो (निर्भय), निर्वैर, अकाल-मूर्त, अयोनि से भंग, गुरुपरसाद जप, आद सच, जुगाद सच, है भो सच; नानक होसी भो सच ॥"

अर्थात् "वह पमेश्वर जिसका सत् नाम ओंकार अथवा ओंकार ही सत् नाम ईश्वर का है। वह सृष्टि कर्ता तीनों कालों अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान में है। अपने आप होने वाला भयरहित, और वैररहित—जो अजन्मा और अमर है, उसी का जाप गुरुकृपा से करो। वह परमात्मा आदि में सत् था, युगों के आदि में सत् था; वर्तमान में सत् है और भविष्य में होगा भी सत् ही"।

इसी प्रकार—ओंकार शब्द उधरे ओंकार गुरुमुखतरे ओम् अक्षर सुनो विचार. ओम् अक्षर त्रिभुवनसार।"

ओम् नामवाले ईश्वर ने शब्द का उद्धार किया अर्थात् वेद प्रकट किये। ओंकार नामवाले ईश्वर ने गुरुमुख अर्थात् ऋषि लोगों को तार दिया (मुक्त कर दिया)। ओम् अक्षर सुनो और

† 'Happy is he, who lives moves and has his being in Aum In order to come by these treasures within, or in order that the Kingdom of Heaven, may be unlocked, this is the key to be used."

—*Heart of Ram*

उसी का विचार करो, वह ओम् नाशरहित और तीनों लोकों का सार है।

६. ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में लिखा है—

क. "ओम्" इस परमात्मा के नाम का अर्थ विचार कर नित्य प्रति जाप किया करें। अपनी आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवें।" —स० प्र० सप्तम समुल्लास

ख. "यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।" —स० प्र० प्रथम समुल्लास

ग. ओ३म् जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता उसकी उपासना करनी योग्य है। वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् कहा है।" —स० प्र० सप्तम समुल्लास

घ. "जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़कर दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं; उन में से ओंकार सब से उत्तम नाम है। इसी नाम का जाप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए।" —ऋ० भा० भूमिका

ङ. "जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक नाम है।" —स० प्र० प्रथम समुल्लास

उपरिलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होजाता है कि आदि समयसे

इसी ओम् का जाप हुआ करता था, अन्य किसी भी शब्द का नहीं। इस से यह भी सिद्ध होता है भारतीय आर्य विद्वानों में अभी तक इसी नाम की प्रतिष्टा जारी है। अतः मनुष्यमात्र को 'ओम्' का ही जाप करना चाहिये।

(७) भारतवर्ष के हिन्दू-मात्र के जातीय लाभ की दृष्टि से भी एक 'ओम्' नाम का जाप होना ही आवश्यक है, क्योंकि अलग अलग जाप होने से जाति में भेद भाव पैदा होता है और जब से हमने अलग-अलग जापों का आरम्भ किया, तभी से हमारी जाति में एकता का अभाव हो गया। अतः इस दृष्टिकोण से भी परमात्मा का यही एक नाम अपनाना आवश्यक है।

ईश्वर सिद्धि

उपरिलिखित सारी बातें आस्तिकों के लिये ही हैं, परन्तु जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, अथवा ईश्वर को मानने के सम्बन्ध में जिनके मन में संशय है, या सृष्टि की रचना पालन-पोषण तथा प्रलय करने वाले परमात्मा के विषय में कोई संशय है, उनके लिये संक्षेप से कुछ बातें यहाँ लिखी जाती हैं—

(१) जैसे मैं (आत्मा) शरीर में व्यापक हूं, वैसे ही वह ईश्वर सब में व्यापक है, परन्तु इस शरीर में व्यापक होते हुए और सब चेष्टायें देखते हुए भी मैं (आत्मा) इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जाता, परन्तु ज्ञान-चक्षु से मेरी सत्ता का अनुभव होता है, वैसे ही परमात्मा भी इन चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखाई देता। यद्यपि वह सम्पूर्ण संसार में व्यापक है वही सारे संसार को गति दे रहा है, और वह ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता है। उसे ज्ञानचक्षु से ही अनुभव किया जा सकता है। यदि मेरे अपने होने में किसी को कोई संशय नहीं तो उस ईश्वर के होने में संशय क्यों होना चाहिये ?

(२) जैसे मैं (आत्मा) अपनी इच्छामात्र से शरीर के प्रत्येक अंग को गति देता हूं। मुझे एक अग से हटकर दूसरे अंग में जाने की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ब्रह्म सारे संसार में

व्यापक होते हुए अपनी इच्छामात्र से सारे संसार को गति देता है, क्योंकि यह जगत् उस शरीर है। इसी बात को ईशोपनिषद् में भी स्पष्ट किया गया है--

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्न्तिके !
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥'

वह संसार को चलाता है, अतः प्रतीत होता है कि वह चलत है, पर वह चलता नहीं; क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। वह अज्ञानियों से दूर है और ज्ञानियों के समीप है। वह इस संसार के भीतर और बाहर दोनों ही स्थलों पर है; क्योंकि यह ससार ही उसके अन्दर है।

(३) जब मेरी (आत्मा की) इच्छा होती है तब बोलता हूं। जब तक यह इच्छा बनी रहती है, मैं बोलता रहता हूं और जब मेरी इच्छा बन्द हो जाती है, तब मेरा बोलना भी बन्द हो जाता है। परन्तु मेरा बोलना रुक जाने पर भी मेरे बोलने की शक्ति नहीं रुक जाती। जब चाहूं तब मैं बोल सकता हूं। वैसे ही ईश्वर अपनी इच्छामात्र से सृष्टि को पैदा करता है, उसकी इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न होती है, जब तक उसकी इच्छा सृष्टि चलाने की रहती है, तब तक सृष्टि की स्थिति रहती है और जब उसकी इच्छा बन्द हो जाती है, तब प्रलय हो जाती है और सृष्टि अपने तत्त्वों में विलीन हो जाती है। मनुष्य के बोलने की प्रसुप्त शक्ति के समान परमात्माकी सृष्टि रचने आदि की शक्ति बन्द नहीं होती। परन्तु परमात्मा का कार्य आत्मा के

कार्य से भिन्न है, अर्थात् वह नियम-बद्ध है, अतः उसके सृष्टि स्थिति और प्रलय काल नियत हैं। उनमें किसी प्रकार का अनियम नहीं। इसी कारण मनु महराज ने कहा है कि जितने नियत समय तक सृष्टि रहती है, उसे ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है और उतने ही प्रलयकाल को ब्रह्मा की रात्री कहते हैं।

(४) जैसे इंजिनियर के मस्तिष्क में पुल, गृह तथा जो कुछ बनाना हो, उसका नक्शा बसा हुआ होता है और उसी के अनुसार किसी कागज़ पर नक्शा बनाया जाता है तथा उसी नक्शे के अनुसार स्थूल गृह आदि का निर्माण हो जाता हैं। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, अचेतन आदि जाति भेद से 'सबकी आकृति या नक्शा उस परमात्मा के ज्ञान में स्वभाव से बना रहता है। जब उसकी सृष्टि-रचना की इच्छा होती है, तो वह वैसी ही रचना को प्रकट कर देता है।

इस रचना के क्रम को प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष भलीभांति समझ सकता है। जिज्ञासु पुरुष को प्रतिदिन एकान्त में बैठ कर उपरिलिखित बातों का तथा नीचे दिये उदाहरणों का भली प्रकार मनन करना चाहिये। क्योंकि निरन्तर सृष्टि-रचयिता की जगन्निर्माणशैली का मनन करने से जिज्ञासु को यह निश्चय हो जायगा कि बिना कर्ता के कोई कार्य नहीं होता। इस से उसकी संशयात्मक बुद्धि दूर हो श्रद्धा उत्पन्न होगी।

जो लोग प्रकृति को ही सृष्टि का रचने वाला मानते हैं, अर्थात् जिनका विश्वास है कि यह सब-कुछ प्रकृति का ही स्वभाव है और इसके सिवा कोई भी निर्माता नहीं, उनके विचार के लिये कुछ सामग्री नीचे दी जाती है—

(१) हर एक वस्तु का कोई न कोई प्रयोजन होता है। प्रत्येक वस्तु के अन्दर आकर्षण तथा अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध पाया जाता है। यह सारा कार्य बुद्धिपूर्वक एवं नियमबद्ध है। ये बातें जड़ वस्तु में दिखाई नहीं देती; जहां ज्ञान होगा, चेतनता होगी, वहां ही ये बातें दृष्टिगोचर होती है।

(२) जिस प्रकार रंग, कागज़, ब्रुश आदि साधन विद्यमान होते हुए भी चित्रकार के बिना स्वयं चित्र नहीं बन सकता और न ये वस्तुएं किसी को चित्र का या चित्र बनाने वाले का ज्ञान दे सकती हैं- प्रत्युत चित्र बनाने अथवा चित्र-विद्या सिखाने के लिये एक प्राणधारी जीवित बुद्धिमान् पुरुष की आवश्यकता है और उसी के ज्ञान का यह परिणाम होता है कि चित्र बन जाता है। इसी प्रकार यह सारा संसार भी किसी बुद्धिमान् अनन्त ज्ञानवाले ज्ञाता का बनाया हुआ चित्र है। क्योंकि मनुष्य को तो इतनी भी शक्ति नहीं कि वह टुकड़े-टुकड़े हो गये पत्ते को पुनः वृक्ष पर लगा सके, या अपनी फूटी हुई आँख का ही पुनःनिर्माण कर ले।

(३) एंजिन का नक़शा पहले एक चेतन व्यक्ति के दिमाग़ में आता है, उसे बनाने वाला कोई चेतन पुरुष ही है तथा चलाने वाला भी कोई पुरुष ही है, वह उसे धीरे या तेज़ चला सकता है और ठहरा भी सकता है। अपनी इच्छानुसार वह एंजिन को आगे या पीछे भी चला सकता है। यह सारी क्रिया चेतन पुरुष की है, एंजिन की अपनी नहीं है। इस प्रकार चिउँटी से लेकर हाथी तक जितने भी प्राणी हैं, उन सब में यह बुद्धिपूर्वक क्रिया पाई जाती है। परन्तु जड़-प्रकृति की विशाल वस्तुओं में इस बुद्धि का अभाव है, क्योंकि वे ज्ञान-शून्य तथा चेतना रहित हैं।

(४) मनुष्यों का अपानवायु (कार्बन गैस) वृक्षों का प्राणवायु है और वृक्षों का अपानवायु हमारे लिये प्राणवायु (अम्लजन गैस) है, जो हमारे जीवन का कारण है। यदि हमारी अपानवायु को कोई खाने वाला न होता तो वायु के गन्दा होने से हम सब की मृत्यु हो जाती और यदि वनस्पतियों के अपान वायु को कोई लेने वाला न होता, तो भी वायु के गन्दा होने से सारी वनस्पतियाँ सड़ जातीं। इस प्रकार आपस के एक दूसरे से सम्बन्ध तथा जीवन के अधार की नियामक कोई चेतन सत्ता है।

(५ मनुष्य की प्रत्येक इन्द्रिय, पञ्चभूतों अर्थात् अग्नि, वायु जल, पृथ्वी और आकाश से बनी है। जब ये सारी शक्तियां प्रत्येक इन्द्रिय में वर्तमान हैं, तो आँख सूँघती क्यों नहीं, कान देखता क्यों नहीं ? इत्यादि। परन्तु आँख ही देखती है, कान ही सुनता है, जिह्वा से ही स्वाद लिया जाता है,

इस नियम का नियामक यदि चेतन नहीं तो और कौन हो सकता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह प्रकृति का कार्य नहीं, अपितु इस नियम का बाँधने वाला कोई और ही है। इसी प्रकार पञ्चभूतों से बने हुए वृक्ष के पत्ते, टहनियाँ तथा बीज आदि में कहीं पर भी सुगंधि नहीं आती, परन्तु फूल में सुगन्ध प्रकट हो जाती है। अत. मानना पड़ेगा कि इस नियम का विशेषज्ञ कोई चेतन है और वही ईश्वर है।

(६) आकाश में उड़ते हुए पतङ्ग या वायुयान को देखकर यह कभी अनुमान नहीं होता कि वे अपने आप बन गये और अपने आप उड़ रहे हैं। पतङ्ग के पीछे डोर है, डोर का का पकड़ने वाला है, जो उसे गिरने नहीं देता। वायुयान का रचने वाला है, उसे चलाने वाला चाहे जिधर ले जा सकता है। इन बातों को देख कर पता लगता है कि इनका उड़ना आदि कार्य किसी चेतनशक्ति के सहारे है। यदि वह शक्ति न हो ये क्षण-भर भी आकाश में नहीं ठहर सकें। इसी प्रकार यह हमारी पृथ्वी, जो कि बड़े ग्रहों की तुलना में बहुत ही छोटी है, इस पर भी दो अरब जीवित मनुष्य बास करते हैं, पशु- पक्षियों की तो गणना ही कोई नहीं। मनुष्य की बनाई हुई ६० मील गतिवाली ट्रेन से ६०० गुणा अधिक तेज चाल से यह पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और नियमपूर्वक ३६५ दिन में एक क्षण का भी भेद न करते हुए अपना कार्य समाप्त करती है। (इसे गति देने या घुमाने के लिये कोई

डोर या रस्सी भी नहीं है रेलगाड़ी आदि की भाँति कभी टक्कर भी लगती नहीं देखी गई । यद्यपि पृथ्वी के बोझ का अन्दाज़ा १६ हजार संख मन लगाया गया है और सूर्य का परिमाण पृथ्वी से ६६ लाख गुणा अधिक है । तो बताइये इसके पीछे गति या सहारा देने वाला कोई है या नहीं ? वह कितना शक्तिशाली, बुद्धिमान् और ज्ञानी होगा, यह भलीभाँति विचार करने योग्य बात।

(७) परीक्षणशाला में हाइड्रोजन गैस तथा आक्सीजन गैस को मिला कर पानी बनाया जाता है और फिर उस पानी को उन्हीं दोनों गैसों में परिवर्तित कर दिया जाता है । परन्तु इन दोनों गैसों, जल तथा मशीन आदि साधनों की सत्ता में भी किसी चेतन शक्ति के बिना, न पानी बन सकता है और न पुनः वह पानी गैसों में बदल सकता है । इसी प्रकार जब हम देख रहे हैं कि अनन्त जल समुद्रों में भरा पड़ा है, वही जल वाष्प में परिणत होकर सूर्य रूपी मैशीन से बादल बनता हुआ दृष्टिगोचर होता है और पुनः जल होकर पृथ्वी पर बरस जाता है तो यह सूर्य रूपी मैशीन का काम नहीं, क्यों कि सूर्य जड़ है और जड़ को गति देने वाली शक्ति चेतन ही होती है । इसलिए यह दृष्टान्त भी सिद्ध करता है कि इस सब के पीछे कोई अनन्त शक्ति है ।

(८) 'क' अक्षर मनुष्य के शरीर में कण्ठ से और 'प' ओष्ठ से बोला जाता है । नास्तिक लोगों का कथन है कि पंच-

भूतों के मिलने से इस सृष्टि की रचना हो जाती है। सृष्टि की रचना तो एक ओर रही, सारे संसार के लोग मिलकर भी नियन्ता के इस छोटे-से नियम को नहीं बदल सकते, अर्थात् 'कं' को ओष्ठ से और 'प' कण्ठ से नहीं बोला जा सकता। इस सम्बन्ध में सारा प्रयास व्यर्थ ही होगा और यदि इस नियम में कोई दखल देगा, तो उससे यह शरीररूपी मैशीन खराब ही होगी, सुधरेगी नहीं। अतः इस सृष्टि का कोई नियन्ता है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी उसके अटल नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता।

गायत्री में द्वैतवाद

जो लोग केवल ब्रह्म ही ब्रह्म को मानते हैं, अर्थात् अद्वैत-वादी हैं, उनके मत का परिहार भी यह गायत्री-मंत्र स्वयं कर देता है। इस मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः, तत्, सविता, वरेण्यं भर्गः, तथा देव शब्द, सब एकवचनान्त हैं और 'ओम्' के गुणों की स्तुति करने से 'ओम्' के ही विशेषण हैं। परन्तु आगे चलकर इस मन्त्र में "धियो यो नः प्रचो-दयात्" इस खण्ड में "नः" तथा उससे पूर्व "धीमहि" शब्द बहुवचनान्त हैं।। जो कि जीवों के लिये ही प्रयुक्त हो सकते हैं ब्रह्म, के लिए नहीं। इस मन्त्र में परमात्मा से बुद्धि की याचना से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि अल्पज्ञ जीव ही अपनी अल्पज्ञता को दूर करने के लिये ईश्वर से बुद्धि माँगते हैं और माँगा उसी से जा सकता है जो अपने से पृथक् तथा बड़ी शक्ति

वाला हो, अतः गायत्री-मन्त्र में अद्वैत का आभास लाना भ्रममात्र ही है।

इस प्रकार निरन्तर मनन करने से एक दिन जिज्ञासु को यह निश्चय होने लगेगा कि सत्य ही इस सृष्टि तथा मानव-शरीर आदि का रचयिता कोई महाप्रभु है। इससे वह अपनी अज्ञता और परमात्मा की सर्वज्ञता को अनुभव करने लग जावेगा। उसे यह भी अनुभव होने लगेगा कि हिमालय के सम्मुख एक मच्छर की सत्ता तो हो सकती है, किन्तु इस विशाल जगत् की तुलना में मेरी कोई सत्ता नहीं। इसलिए, जैसे दुर्बल सबल का सहारा ढूँढता है, इसी प्रकार यह अल्पज्ञ जीव भी संसार के दूसरे कार्यों को छोड़कर अपनी आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिये महती सत्ता के समीप जाने का प्रयत्न करेगा। परमात्मा की अनन्त शक्ति दिखाने के लिए, उसके अनन्त गुणों का आधान करने के लिए, तथा जीवन में श्रद्धा और भक्ति पैदा करने के लिए यह गायत्री माता अपने गुणों को दिखाती है, जिससे बालक में माता के प्रति प्रेम-भावना और श्रद्धा पैदा हो।

भूर्भुवः स्वः

अब गायत्री-मन्त्र के अनुसार, सृष्टि की रचना, स्थिति और प्रलय करने वाले ओम् के और क्या-क्या गुण हैं, यह वर्णन किया जाता है—

भूः—"भूरिति वै प्राणः"। अर्थात् वह परमात्मा स्वयं प्राण-स्वरूप है और सारे संसार को प्राण दान करता है। यह कार्य संसार में किसी भी अन्य साधन से या मूल्य पर प्राप्त नहीं हो सकता। वह प्राणों का प्राण कैसे है, यह बात दृष्टान्त से विशद की जाती है।

(१) संसार के लोग अनेक प्रकार की मूर्तियाँ, खिलौने तथा गुड्डियाँ, आदि वस्तुएँ बनाते हैं. किन्तु कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उनमें प्राण नहीं डाल सकता। परन्तु ईश्वर, जिसका प्रमुख नाम ओम् है, अपने बनाये प्राणी-रूपी गुड्डे-गुड्डियों में प्राण डालता है, इस लिए यह "भूः" विशेषण उसी परमात्मा का हो सकता है।

(२) फुटबाल के अन्दर हवा भरने वाला चेतन होता है। उसमें वायु भर कर बाहर से रस्सी बांधने पर ही उसमें वायु ठहर सकता है, यदि रस्सी न बाँधी जावे या उसमें कोई छिद्र हो, तब भी उसमें कोई कार्य नहीं हो सकता; अर्थात् न उससे खेला जा सकता है और न उसकी कोई

क़ीमत रहती है। परन्तु संसार का प्रत्येक प्राणी तो अपने अन्दर ६ छिद्र रखता है, तिस पर भी इसके अन्दर का वायु बाहर नहीं निकलता अर्थात् प्राणी के गति करते हुए भी प्राण भीतर ही बना रहता है, और प्राणों की स्थिति आयु-पर्यन्त बनी रहती है। यह कार्य उसी ओम् का है, जो प्राण-स्वरूप है और जो संसार को प्राण देता है।

(३) जैसे सितार, हारमोनियम, तबला, तम्बूरा तथा विविध प्रकार के बाजे किसी वृक्ष पर नहीं लगते और न किसी चेतन-शक्ति द्वारा बजाये बिना वे स्वयं बज ही सकते हैं। वैसे ही संसार में मच्छर से हाथी पर्यन्त पशु, अनेक प्रकार के पक्षी, विविध भाँति के कीट तथा मनुष्य आदि प्राणी किसी शक्ति के बनाये हुए बाजे हैं, जो जीते-जागते तथा प्राणस्वरूप हैं। संसार में प्राण के अधीन ही सारी क्रियाएँ हो रही हैं। यदि ये क्रियाएँ तथा प्राण जीव के अधीन होते, तो यह जीव इनको कभी भी निकलने न देता। क्योंकि कोई भी जीव स्वयं यह पसन्द नहीं करता कि मेरी आंख न रहे, कान की शक्ति न रहे तथा वाणी की शक्ति न रहे। इससे प्रतीत होता है इन जीवों के अन्दर यह प्राणों के रखने की शक्ति निजी नहीं, अपितु इसके देने वाली उससे भिन्न कोई और ही विशेष शक्ति है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह शक्ति सर्वव्यापक है, इन प्राणियों की शक्ति अर्थात् परमात्मा के प्राण-रूपी बाजों की

बोलने; तथा उनके प्राण तथा अपान आदि की शक्ति प्रतिक्षण बनी रहती है। इससे प्रतीत होता है कि वह इन प्राणी रूप बाजों के प्रतिक्षण साथ रह कर इनको शक्ति प्रदान कर बजाता है, अतः वह बजाने वला सर्वव्यापक है और भूः नाम से पुकारा जाता है।

संसार में सबसे उत्तम योनि मनुष्य योनि है और उसमें सर्वोत्कृष्ट वस्तु प्राण हैं। शरीर में प्राण के रहते हुए ही माता, पिता आदि सम्बन्ध बने रहते हैं, उसके बाद नहीं। धन-सम्पत्ति तथा राज्य आदि सब प्राण के ही साथ हैं, और सब कुछ व्यय करने पर भी प्राण कहीं से नहीं मिल सकता। इससे यह पता चला कि सब से अमूल्य वस्तु प्राण हैं। यह प्राण मनुष्य को उस भूः स्वरूप ओम् से ही मिलता है। जिज्ञासु के लिए यह अत्यन्त विचारणीय बात है कि वह ऐसी अमूल्य वस्तु देने वाले परमेश्वर की समीपता में कैसे जा सकता है। यदि कोई मनुष्य प्राणों की महत्ता को समझ जाय, तो वह अवश्य ही कल्याण-पथ का पथिक बन जायगा और इस ओर जीवन के शेष कार्यों की अपेक्षा अधिक समय देगा। ऐसा व्यक्ति इस कार्य को बेगार नहीं समझेगा, वह अपनी आध्यात्मिक साधना को श्रद्धा भक्ति, तथा पूर्णता से मनसा-वाचा करेगा। इसी से उसका कल्याण होगा।

विद्वानों ने बताया है कि मनुष्य को २४ घण्टे में २२,५०० श्वास मिलते हैं, यद्यपि इनके मूल्य का अनुमान करना सम्भव

नहीं है, तथापि यदि एक प्राण की एक रुपया भी कीमत लगाई जाय, तो प्रत्येक मनुष्य परमात्मा से २२,५००) रुपये प्रतिदिन लेता है। इन प्राणों में से आधे तो सोने में, कुछ बचपन में, कुछ खेल तथा व्याधि आदि कृत्यों में व्यतीत हो गये। यदि शेष थोड़े-से प्राणों को भी जिज्ञासु ईर्ष्या, द्वेष, गपशप आदि में ही लगा दे, तो उसके कल्याण की संभावना ही कैसे ही हो सकती है। इस ऋण से वह कैसे उऋण हो सकेगा, जबकि वह उस परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनादि में किञ्चिन्मात्र भी समय नहीं देता। इस दशाः में वह अपने लिए सुख और शान्ति की आशा कैसे रख सकता है ? अतः साधक को चाहिए कि वह समझ-बूझ कर ध्यानपूर्वक इस ओर अपनी रुचि बनाए, जिससे उसका कल्याण हो। एक लेखक ने ठीक कहा है—

"अपने बचपन, नींद बीमरी तथा व्यर्थ खोये गये समय का हिसाब लगा और तब सोच कि अपने अमूल्य जीवन के कितने स्वल्प भाग का तू सदुपयोग कर पाया है !"

भुवः—"भुव इत्यपानः"। वह ओम् सब दुःखों से दूर है और प्राणियों के विविध दुःखों को दूर करने में समर्थ है। जो बन्धन से रहित हो वही दूसरे के बन्धन काट सकता है। जैसे किसी वृक्ष के साथ बंधा हुआ मनुष्य किसी अन्य बंधे हुए मनुष्य के फन्दे नहीं काट सकता। जो स्वयं बन्धन से रहित है, वही दूसरों के बन्धनों को काट

सकता है। अवतार, पीर तथा पैग़म्बर आदि मनुष्य के बन्धनों को काटने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वयं जन्म-मरण आदि के बन्धनों में बंधे रहे हैं। इसलिए यह विशेषण केवल ओम् के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है।

जिज्ञासु के हृदय में शंका पैदा हो सकती है और इस जिज्ञासा का होना पूर्णतः स्वाभाविक भी है कि वह प्रभु कौन से दुःखों को तथा कैसे दूर करता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक भेद से दुःखों की तीन श्रेणियाँ हैं जिनमें संसार के सब प्रकार के दुःख आ जाते हैं। यदि दीर्घ दृष्टि से देखा जाय, तो बिना 'ओ३म्' की सहायता के कोई दुःख दूर नहीं होता। दृष्टान्त रूप से इस प्रकार समझें कि भूख-प्यास अङ्गों का ढाँपना, सर्दी तथा गर्मी, अँधेरा आदि दुःखों की निवृत्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है और प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत भी यही होता है कि हम स्वयं ही इन दुःखों को दूर करने में समर्थ हैं। परन्तु विचारपूर्वक देखने पर पता चलेगा कि इन कष्टों को दूर करने के लिए यदि परमात्मा के दिये हुए जल, सूर्य, वायु पृथ्वी तथा अग्नि न हों तो मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अपना दुःख दूर नहीं कर सकता। उदर आदि के रोगों को भी वही दूर करता है, क्योंकि वैद्य परमात्मा की बताई हुई औषधि से ही उन रोगों का निवारण करता है तथा चिकित्सा-विद्या का आदिमूल भी वही ईश्वर है।

शारीरिक दुःखों को दूर करने के लिए वेद तथा विद्वानों ने नीचे लिखे चार साधन बतलाये हैं—

(१) **अथर्वम**–प्राणायाम करने से मनुष्य-शरीरस्थ प्राण, अपान, व्यान' समान तथा उदान आदि तथा आन्तरिक नस-नाड़ी आदि के सब रोग नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि प्राण, अपान आदि शरीर के अधार हैं। इसलिए उनके ठीक गति में रहने से ही शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु इन प्राणादिकों के ऊपर मनुष्य का अधिकार नहीं। प्राण आदि वायुओं को धारण करना मनुष्य के बस की बात नहीं, अतः मानना ही पड़ेगा कि परमात्मा के आदेश पर ये वायु मनुष्य के शरीर में स्थित है और वही इनके दुःखों को दूर करने में समर्थ है अतः पहला उपाय प्राणायाम है और यह प्राण उसी ओ३म् के अधार पर स्थित है और वही शरीर के दुःखों को दूर करता है।

(२) **अंगिरस**–अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन। साधारण तथा पानी की गति नीचे की ओर होती है, ऐसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से भोग भोगने की होती है और भोग भोगने से जल के नीचे जाने की भाँति दुर्बलता आती है। और जहां दुर्बलता है, वहां रोग तथा अपवित्रता का निवास है। क्योंकि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है और शक्ति में पवित्रता रहती है, अतः उस शक्ति स्वरूप परमात्मा का अनुष्ठान करने से मनुष्य भोगों में नहीं फंसता तथा अपनी शक्ति को स्थिर रख सकता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य पवित्र रह सकता है और दुःखों से बचा रहता है। अतः ओम् के आश्रय से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं।

जल के अन्दर पड़ी हुई मछली मगरमच्छ से तभी बच सकती है, जब वह मछियारों द्वारा डाले हुए आटे आदि की ओर आकृष्ट न होकर मगरमच्छ का दूर से देख ले। मछली स्वाभाविक गन्ध से ही दूर से आते हुए मगरमच्छ को पहिचान लेती है; परन्तु लालच में पड़कर लापरवाही से वह वहीं खड़ी रही, तो उसका बचना कठिन है। अन्यथा वह उस प्रभु-कृपा से बच सकती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य भी कामादि ग्रहों से अपने को बचाना चाहता है तो उसे इनके आकर्षण से बचाना होगा और ब्रह्मचर्य की ओर ध्यान देना होगा। यह कार्य प्रभु की कृपा के बिना अत्यन्त कठिन है।

(३) दैवी—सूर्य, वायु, जलादि की प्राकृतिक चिकित्सा। सूर्य आदि के यथायोग्य सेवनकरने से मनुष्य के बड़े से बड़े भी दुःख दूर होते हैं। जल, वायु तथा सूर्य की चिकित्सा से तपेदक आदि नाना प्रकार के ये भयङ्कर रोग दूर किये जाते हैं और ये सब शक्तियां भी उसी सृष्टि-रचयिता प्रभु की दी हुई हैं, किसी वैद्य या मनुष्य का इन शक्तियों पर कोई अधिकार नहीं।

(४) औषधि—सब प्रकार की वनस्पतियां रोगों को दूर करती हैं, इन्हीं से चिकित्सक लोग रोगों की चिकित्सा करते हैं। इन ओषधियों का उत्पन्न करनेवाला भी वही ओम् है, जिसके सहारे पर ये औषधियां अपना प्रभाव करती हैं। इस तरह हमें मानना ही पड़ेगा कि परमात्मा ही हर एक रोग को दूर करने वाला है।

यदि किसी मनुष्य का अपान वायु ही वर्ष-भर में केवल एक दिन के लिए विकृत हो जाए, तो वह डाक्टर को उसकी मनचाही फीस देकर रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है, और हर प्रकार के साधन करता हुआ अपनी शक्ति से अधिक व्यय भी करता है। उस दशा में वह डाक्टर की आज्ञा से उपवास करता है और पथ्य लेता है। परन्तु ३६४ दिनों में जो 'भुव:स्वरूप' ईश्वर अपान वायु को ठीक रख इस शरीर रूपी गाड़ी को समुचित गति देता है, यदि ऐसे महान् वैद्य का मनुष्य कृतज्ञ नहीं होता तो उसके रोग कैसे दूर हों। इस लिए सर्व रोगों की निवृत्ति के उद्देश्य से उस 'भुव:' विशेषण युक्त ओम् का जाप करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिससे उसके समीप हो रोगों को दूर किया जावे।

मृत्यु दुःख

संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ा दुःख मृत्यु-दुःख है। यहां विचारणीय यह है कि मृत्यु क्या वस्तु है तथा मृत्यु से सबने अधिक डर क्यों लगता है। आत्मा का शरीर से वियोग ही मृत्यु है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जीव का शरीर से सम्बन्ध रहता है। इस शरीर के साथ जीव का विशेष सम्बन्ध होने से वह इससे विशेष प्रेम करने लगता है तथा इसको वह अपना समझ लेता है और इसे छोड़ने पर वह दुःखी होता है। यह शरीर, जो कि लक्ष्य की सिद्धि के लिये परमात्मा ने उसे (आत्मा) को दिया है, अज्ञान

से इसे वह अपना लक्ष्य समझ लेता है। अतः उसे मृत्यु समय अधिक दुःख होता है।

मृत्यु के दुःख से वह बच सकता है, जो जन्म के बन्धन में न आवे। कारण यह कि जो जन्म लेगा, उसकी मृत्यु एक न एक दिन अवश्य होगी ही।

केवल वही मनुष्य जन्म के बन्धन से छूट सकता है, जो इस शरीर-जन्य प्रेम को छोड़कर उस लक्ष्यरूप अक्षर का आश्रय ले, जो जन्म-मरण के बन्धन से अलग है अन्त समय में बड़े से बड़े नास्तिक, विद्वान्, राजा, महाराजा तथा शक्तिशाली लोग अपनी प्रत्येक प्रकार की पूर्ण शक्ति व्यय करके भी इस मृत्यु से बचने के लिए कोई भी उपाय नहीं देखते; तब ईश्वरेच्छा को ही बलवती मान उसका ही आश्रय लेते हैं अन्य किसी का नहीं। यदि मनुष्य पहले ही परमेश्वर का आश्रय ले ले और सांसारिक वस्तुओं को लक्ष्य न समझ उन्हें साधनमात्र बना लें तो उसे किञ्चितमात्र भी कष्ट न हो। अतः जिज्ञासु को "भुवः" स्वरूप परमेश्वर का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।

स्वः "स्वरिति व्यानः" अर्थात् वह परमात्मा आनन्द-स्वरूप है और सबको सुख देने वाला है।

प्रश्न होता है कि वे सुख कौन से हैं, जिसको वह प्रदान करता है। जिज्ञासु को अपने हृदय में स्वः का जाप करने का यही तात्पर्य समझना चाहिए कि प्रत्येक प्रकार के सुख को

वह इस दृष्टि से देखे कि उसमें परमात्मा का हाथ है या नहीं ? क्या उसकी कृपा के बिना कोई सुख मिल सकता है ?

संसार में सबसे बड़ा सुख विद्या का है, क्योंकि विद्या के बिना संसार के सब पदार्थ किसी भी मूल्य के नहीं। विद्वान् के हाथ में लोहा आने से वह उससे घड़ी, मैशीन तथा अन्य अनेक प्रकार की अत्युपयोगी वस्तुएं बना सकता है। विद्यावान् ही अपने राज्य, राष्ट्र, देश तथा परिवार को उत्तम बना सकता है। विद्या से मनुष्य देवत्व अथवा निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है। विद्या के बिना साधारण कार्य भी अत्यन्त कठिन हो जाता है और विद्याहीन मनुष्य पशु के समान ही रहता है।

सृष्टि के आदि में शब्द-रूप ज्ञान देनेवाली माता, जिसका नाम 'ओम्' है, पुरुष को ज्ञानचक्षु देती है, जिससे मनुष्य उन्नत होता है। इस प्रकार इस सुख का देनेवाला भी वही परमेश्वर हुआ।

गूँगे की ओर देखकर वाणी के सुख का अनुमान कर लेना चाहिये। यदि वाणी न हो तो मनुष्य गूँगों के समान कितना दुःख भोगे। यह वाणी ही है जो मनुष्य और पशु में भेद करती है। मनुष्य वाणी द्वारा अपने आप सुखी हो सकता है तथा दूसरों को सुखी कर सकता है। परन्तु पशु अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करने में असमर्थ होने से अपना दुःख दूर नहीं कर सकता और सुखी नहीं हो सकता।

अन्धे को देखकर दृष्टि-सुख का अनुभव करना चाहिए।

यदि आँख का प्रकाश जाता रहे, तो डाक्टर सारे प्रयत्न करके भी उसे प्रकाश नहीं दे सकता। जन्मान्ध मनुष्य कभी देखने में समर्थ नहीं हो सकता। इस देखने की शक्ति को देने वाला वही "स्वः" स्वरूप परमात्मा है।

संसार में अनेक प्रकार के भोग हैं, अनेकविधि खाद्य-पदार्थ हैं। मनुष्य केवल उनको अनने उदरस्थ करना ही जानता है। अन्दर की क्रिया अर्थात् रस आदि का निर्माण वह स्वयं नहीं कर सकता। जठराग्नि के विगड़ जाने से संसार के रूप, रस, गन्ध आदि कुछ भी अच्छे नहीं लगते। यह जठराग्नि ठीक हो तो मनुष्य को कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। ऐसी अवस्था में मनुष्य दुःखी होता है, अनेक प्रकार के इलाज करता है। परन्तु परमात्मा इस जठराग्नि की क्रिया कैसे उत्तम रीति से कर रहा है, यह विचार कर देखना चाहिये। अन्दर आग है, पर वह पेट नहीं जला सकती। इतना महान् सुख उसके बिना कौन देने वाला है। अतः उस परमात्मा का आश्रय तथा उससे प्रेम करना चाहिये, जिससे यह सुख प्राप्त होता है।

नींद के न आने से मनुष्य रोगी समझा जाता है। सारे अंग-प्रत्यंग कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं—परन्तु यह नींद, माता, पिता, डाक्टर आदि से नहीं मिलती। यदि कोई अपनी नींद देना भी चाहे तो भी नहीं दे सकता। यह नींद धन देने से प्राप्त नहीं होती। राज्य अर्पण करने पर भी यह

प्राप्त नहीं होती। दुनियाँ में बहुत से दृष्टान्त हैं कि असंख्य रुपये व्यय करने पर भी यह वस्तु न मिली। वैद्य भी नशीली दवा देकर बीमार को बेहोश कर देता है, परन्तु स्वभाविक नींद नहीं दे सकता। डाक्टर भी पहली बात रोगी से यही पूछता है कि रात को नींद आयी या नहीं? यदि नींद आ गई हो तो वह समझता है कि रोगी के रोग में कमी है अन्यथा वह रोग को वृद्धि पर समझता है। इस प्रकार नींद पर शरीर-सुख आश्रित है। इस से पता चला कि जो शक्ति रात दिन इस शरीर की रक्षा कर रही है, वही "स्वः" है। जीव को तो कुछ पता ही नहीं कि उसके स्वास्थ्य का रक्षण किस प्रकार हो रहा है। इस प्रकार अच्छे माता-पिता तथा गुरु आदि की प्राप्ति का सुख और सत्संग, नेक कमाई आदि का आनन्द उसी "स्वः" की संगति में जाकर ही मिलता है, जो उससे प्रेम करता है वही सुखी है।

जैसे भूमि में जब खट्टे, मीठे या कड़वे बीज डाले जाते हैं, तब वे बीज वैसे ही अंश पृथिवी में से लेकर वैसे ही फल उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने पूर्वजन्म में उस "स्वः" रूपी परमेश्वर से प्रेम किया है, उसे सत्संगी माता-पिता आदि साधन सुखरूपी फल देने के लिये ईश्वरीय नियम से मिल जाते हैं। यदि वह इस जन्म में भी शुभकर्म के बीज बोता रहे, तो इस से वह अपने ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होगा।

"तत्सवितुर्वरेण्यं"

तत्—'तत्' शब्द के अर्थ निम्नलिखित हैं—

(१) प्रसिद्ध, विख्यात अर्थात् जिसको सब जानते हों; नाम लेते ह समझ जावें, ग़लती न लगे।

(२) बुद्धिस्थ, अर्थात् जो सहज-प्राप्त हो; हर समय ध्यान में रहे।

(३) अँगुली से निर्दिश्यमान; अर्थात् 'वह'।

(४) पूर्व-वर्णित या आगे वर्ण्यमान।

यहाँ 'तत्' शब्द आगे पीछे दोनों ओर संकेत करता है। अर्थात् पूर्व-वर्णित 'ओम्' नामवाला ईश्वर केवल भूः, भुवः स्वः ही नहीं है, परन्तु वह कुछ और भी है, अर्थात् वह आगे वर्णित गुणों वाला भी है।

यहाँ 'तत्' शब्द ने बल देकर ओम् की ही उपासना की ओर विशेष ध्यान दिलाकर, अवतारवाद का खण्डन कर दिया है। क्योंकि भूः, भुवः, स्वः, सवितः भगः आदि विशेषण किसी शरीरधारी के साथ नहीं लगाये जा सकते और न ही किसी महान् पुरुष ने, जिनको अवतार आदि की पदवी दी गई है, कभी सविता (जिसका अथ सृष्टि उत्पन्न करने वाला है) और भर्गः (पाप नाशक, तेज और प्रकाश को देने वाला) अपने को स्वीकार किया है। जब ये विशेषण किसीदेहधारी अवतार के साथ लग हीनहीं

सकते, तब 'धीमहि' उन सूर्य आदि जड़ और राम, कृष्ण आदि की उपासना का विरोध कर देता है, क्योंकि 'धीमहि' का तात्पर्य उन गुणों को धारण करना है, जो कि 'तत्' शब्द से पूर्व और आगे ओम् नाम वाले ईश्वर के वर्णन किये गए हैं। और यही सच्ची उपासना है।

'तत्' शब्द के और भी अर्थ हैं--

(१) विस्तृत और विस्तारक।

(२) 'ओ३म् तत् सत्'।

इसमें 'तत्' का अर्थ ओम् और ओ३म् का अर्थ खं ब्रह्म = आकाश की भाँति सर्वत्र व्यापक है, सबसे महान् और सर्वज्ञ ईश्वर है।

सविता—इस शब्द का अर्थ है, सृष्टि का रचनेहारा। और यह शब्द 'ओम्' का ही विशेषण है। जिज्ञासु को पहिले ध्यानपूर्वक विवेचन करना चाहिए कि सृष्टि रचयिता कोई है भी या नहीं ?

(१) संसार को देखने से पता चलता है कि कोई भी वस्तु बिना कर्ता के नहीं बन सकती, चाहे उसका निर्माता प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। वन में पड़े हुए पत्थर की कोई कीमत नहीं और न उसके अन्दर कोई आकर्षण है, जिससे मनुष्य उसकी ओर देखे। परन्तु जिस समय एक शिल्पी उसकी मूर्ति या अन्य कोई चित्र बना देता है, तो उसके अन्दर आकर्षण आ जाता है। उसका मूल्य बढ़ जाता है। घरों और मन्दिरों में

उसकी स्थापना की जाती है तथा सजावट आदि के कार्य में उसे लगाया जाता है। उस पत्थर में यह परिवर्तन कारीगर की बुद्धिमता तथा उसके हाथ का चमत्कार ही है। उसी तरह इस सुन्दर सृष्टि का रचयिता वह महाप्रभु ही है।

(२) जंगल में पड़ी एक लकड़ी कालान्तर में सड़ जायगी। परन्तु एक कारीगर उसे वहां से उठा, चीर-फाड़ तथा नक्काशी कर उस पर अनेक प्रकार की बेलें, चित्र तथा भांति भांति का कला-कौशल दिखाता है। तब उस साधारण-सी लकड़ी का मूल्य बढ़ जाता है, वह लोगों के मनों को हरती है। कुर्सी, मेज, अलमारी आदि अनेक वस्तुएं बनाकर लोग उससे लाभ उठाते हैं। यह सारी क्रांति उस जीवित शिल्पी की है, जिसने इसे अपने बुद्धि-चातुर्य से ऐसा बनाया।

(३) सुवर्ण, चांदी पीतल तथा लोहा आदि विविध भाँति की धातें खान या नदियों या रेत में पड़ी हुई मूल्वान् नहीं, वहां उसकी शोभा नहीं, परन्तु जब उन्हीं वस्तुओं को वहां से लाकर उपयोग में लाया जाता है, तो उनसे विविध भाँति के आभूषण अनेक प्रकार की मूर्तियाँ, नानाविध मैशीनें आदि बनाई जाती हैं। जिनसे हर एक व्यक्ति लाभ उठाता है। यह सारी महिमा उसी चेतन कारीगर की है, जिसने इतना परिश्रम किया। ये वस्तुएँ अपने आप नहीं बनीं, पर चेतन के हाथ की कुशलता से इनका इतना उपयोगी स्वरूप बन गया।

(४) बाजार में पड़ी हुई लकड़ियाँ चूना, गारा, ईंट तथा अन्य वस्तुएँ आस पास के लोगों के लिए दुःखदायक हो जाति हैं। म्यूनीसिपल कमेटी वाले बाजार या सड़क पर से उन्हें उठा देने का नोटिस दे देते हैं! परन्तु जब एक चतुर मिस्त्री उनको नियमबद्ध कर यथास्थान लगा देता है, तो वे वस्तुएँ एक भवन की आकृति धारण कर लेती हैं। उस भवन में सर्दी तथा गर्मी से रक्षा होती है, सत्संग होते हैं, लोग लाभ उठाते हैं और आराम करते हैं। पर यह सब अपने आप नहीं होता, इनकी नियामिका भी कोई चेतन-शक्ति ही है।

इन बातों से विदित होता है कि इस विशाल संसार की रचना भी किसी चेतन शक्ति के बिना नहीं हो सकती।

जैसे मूर्ति, आभूषण, अलमारी आदि जड़ वस्तुओं की संगति से कोई मनुष्य उन से गुण नहीं लेता, अपितु कारीगर के पास बैठने से ही वह गुण पा सकता है वैसे ही उस परमात्मा की रची हुई जड़ वस्तुओं के पास बैठने से कोई गुणी नहीं बनता, अपितु इनके बनाने वाले की संगति से ही मनुष्य के गुणों की वृद्धि होती है। अतः इसी का सामीप्य ही मनुष्य को उन्नत बनावेगा।

(५) यह 'सविता' शब्द संसार के किसी कारीगर के लिए नहीं है अपितु इस संसार के रचने वाले ईश्वर के लिए है। संसार में एक कारीगर घड़ी आदि को बनाकर दूर हो जाता है अतः वह उनकी मरम्मत आदि नहीं कर सकता। उनको

ठीक स्थिति में रखने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु उस सविता की कारीगरी में मरम्मत आदि सुधारों की आवश्यकता नहीं। यदि मनुष्य कुछ सुधार करने के लिए दौड़-धूप करेगा भी तो यह मैशीन और भी विकृत हो जाएगी। वह सविता तो स्वयं ही सृष्टि बनाता है, स्वयं ही उसकी मरम्मत करता है।

(६) हिरन घास खाता है और घास में सुगन्धि नहीं होती। परन्तु उसके अन्दर सुगन्धियुक्त कस्तूरी कैसे पैदा हो जाती है? यह बनाने वाले की विचित्रता है। इसी प्रकार पृथिवी पर हर जगह केसर नहीं पैदा होता, परन्तु किसी विशेष स्थान में उसने विचित्र गुण भर दिए हैं, जहाँ केसर पैदा हो जाता, है। वृक्षों के फूलों में सुगन्धि होती है, परन्तु चन्दन के सब अवयवों में ही सुगन्धि है। इसी प्रकार जल-मात्र में समानता होने पर भी स्वातिनक्षत्र में पड़ी हुई सीप की बून्द मुक्ता बन जाती है, अन्य जल मुक्ता नहीं बन सकता। इस विचित्रता का कारण भी कोई चेतन सत्ता है जो सविता कहाती है।

(७) आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानों में, जहाँ हजारों मीलों तक रेत ही रेत है, पानी का नामोनिशान नहीं, कोई खाने की वस्तु सब्जी नहीं, वहाँ पर भी दो प्रकार के वृक्ष मिलते हैं. जिनको 'पानी के वृक्ष' और 'रोटी के वृक्ष' कहा जाता है। वे बाँस की आकृति के हैं। उनके ऊपर टहनियाँ लग कर वे पत्ते के एक कटोरे की भाँति बन जाते हैं और इनमें अन्दर से ही थोड़ा-थोड़ा

करके पानी भर जाता है, जहाँ से प्यासा मनुष्य पानी पीता है और दूसरे वृक्ष पर रोटी की आकृति वाले पत्ते होते हैं, जिनको खाने से भूख शान्त हो जाती है। यह दृष्टान्त बताता है कि जिस प्रकार बच्चे के पैदा होने से पूर्व ही माता के स्तनों में दूध आ जाता हैं, ठीक उसी प्रकार ऐसे स्थानों पर भी चेतन शक्ति प्राणियों के लिए उनके आहार तथा पान के निमित्त उपयोगी वस्तुओं का निर्माण कर देती है।

(८) अक्षरों से स्वयं शब्द नहीं बनते, न वाक्य रचना होती है और न उनमें किसी प्रकार का ज्ञान भरा होता है। परन्तु जब एक बुद्धिमान् लेखक पुस्तक की रचना कर उसमें नाना प्रकार के ज्ञान भर देता है तो उससे लोगों को लाभ होता है और बनाने वाले की बुद्धि का प्रकाश होता है। इसी प्रकार संसार की संपूर्ण वस्तुरूपी पुस्तकें अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हैं। यदि एक पत्ते के गुण की ओर भी हम ध्यान दें तो उसमें अनन्त गुणों का समावेश हमें दिखाई देगा। तब उससे हम विविध भाँति के लाभ उठा सकेंगे तथा दूसरों को भी पहुँचा सकेंगे। यह बात बताती है कि उस पुस्तक रचने वाले की भाँति इस संसार का भी कोई रचयिता है जो वस्तुओं के अन्दर विविध भाँति के गुणों की रचना कर संसार के प्राणियों को लाभ पहुँचा रहा है और इन पदार्थों से उस चेतन सविता के अनन्त ज्ञान का प्रकाश हो रहा है।

(९) एक धनाढ्य पुरुष अपने धन से बिजली का हर एक

प्रकार का सामन ख़रीद कर दुकान में रख लेता है। तार, खम्बे, स्विच, बल्ब आदि नाना प्रकार के सामान उसकी दुकान में हैं। वह मार्गों पर खम्बे आदि भी लगा देता है। परन्तु यदि उस नगर में बिजली न हो तो यह सारी सामग्री उसे रोटी भी नहीं दे सकती; क्योंकि ये वस्तुएँ बिजली के बिना एकदम व्यर्थ हैं। बिजली के बिना तार, स्विच आदि का लगाना लोगों के लिये दु:खप्रद, तथा उनके कोप का कारण ही होगा। उनसे किसी प्रकार का भी किसी को लाभ नहीं होगा उसी प्रकार संसार की सारी वस्तुएँ होने पर भी यदि सविता बिजली नहीं, तो यह सारी सामग्री दु:खदायक है, प्रेम के योग्य नहीं, और मुर्दे की भाँति यह सब हेय हैं। उस दशा में इनके लिये समय देना, बुद्धि लगाना तथा धन का व्यय करना निरर्थक है, जब तक कि सविता शक्ति को अपने अन्दर लाने का प्रयत्न न किया जावे। जैसे विशेष प्रयत्न तथा बुद्धि आदि साधनों से उस नगरमें बिजली लाई जा सकती है और उपर्युक्त सारे सामान को लाभप्रद तथा सुखकर बनाया जा सकता है, साथ ही धनी के धन से भी आय हो सकती है। ठीक इसी प्रकार विशेष ज्ञान तथा पुरुषार्थ से ब्रह्मविद्या द्वारा ही उसी सविता शक्ति को अपने अन्दर लाया जा सकता है और उसी दशा में यह संसार की सारी सामग्री मनुष्य के लिए बिजली के प्रकाश की भाँति सुखकर हो जाती है। जैसे बिजली के सामान को लगाने और उससे प्रकाश लेने के नियम हैं, यदि

उनको तोड़ा जाये, तो बिजली के होते हुए भी कोई उनसे लाभ नहीं उठा सकता। उन नियमों को तोड़ने वाला अंधेरे का दुःख सहता रहेगा; इसी प्रकार उस सविता के भी इस सृष्टि में कुछ नियम हैं, जिनको ग्रहण कर तथा नियमों का पालन कर मनुष्य सुखी हो सकता है। इन पदार्थों से वह लाभ उठा सकता है। यदि वह इन नियमों का पालनन करे, तो वह अज्ञान में रहेगा और अज्ञान से इनका दुरुपयोग कर वह दुःखी होगा। इसलिए उस सविता तथा उसके नियमों का ज्ञान ही सविता का वास्तविक जाप है।

बिजली के आने पर लोग स्वयं ही वहाँ बिजली का सामान ले आयेंगे; वैसे ही सविता के जाप से अर्थात् हृदय-मन्दिर में उसकी स्थापना करने से संसार की ये सारी वस्तुएँ स्वयमेव वहाँ आ जावेंगी। जहाँ विष्णु होगा, वहाँ ही लक्ष्मी स्वयमेव अपने पति के पास चली आवेगी। सूर्य होने पर प्रकाश स्वयमेव ही आ जाता है और तब वह अँधेरा तथा रोग भाग जाते हैं, इसी प्रकार सविता की उपासना से सारे सुख स्वयं पास आ जायेंगे और सारे दुःख दूर हो जायेंगे। इसलिए मनुष्य को संसार के पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, अपितु उस सविता को अपने हृदयमें स्थापित करने की चिन्ता करनी चाहिए

वरेण्यं—यह 'ओ३म् का तीसरा विशेषण बताया गया। वरने योग्य, ग्रहण करने योग्य, तथा पूजा योग्य। यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्या संसार में और कोई वस्तु वरने योग्य या

ग्रहण करने योग्य नहीं? संसार में सब से विशेष सर्वबन्धु ग्रहण करने योग्य वही ओंकार है। यह वरेण्यं शब्द उसी के लिए है, अन्य के लिए नहीं। कारण यह है कि—

(१) संसार के सब बन्धु, माता, पिता, तथा मित्र आदि हमें छोड़ जाते हैं और अन्त समय वे कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। परन्तु परमात्मा का सम्बन्ध कभी भी नहीं छूट सकता, अपितु वह सदा साथ रहते हुए प्राणी का कल्याण करता है, तथा उसको शुभकर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है। दूसरों से तो कभी हम रूठ भी जाते हैं, और वे हमें छोड़ देते हैं, पर ओंकार तो प्रतिक्षण ही हमें अपनी समीपता में रखता है।

(२) जैसे मछली का आधार पानी है, उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकती; जिस प्रकार शरीर बिना प्राणवायु के नहीं रह सकता और जिस प्रकार छोटे बच्चे का आधार माता का दूध है, माता के दूध के बिना उसका निर्वाह कठिन है, इसी प्रकार जीव का आधार या उसके वरने योग्य वही ईश्वर है। इसी का हाथ पकड़ कर मृत्यु आदि भयंकर दुःखों से तर सकता है; अतः जीव का वरने योग्य यह ओंकार ही है, अन्य वस्तुएं नहीं; उनके बिना जीव का निर्वाह हो सकता है।

(३) एक पतिव्रता स्त्री के लिये उसका पति ही वरने योग्य है। यद्यपि अन्य सम्बन्धी भी उसके प्रेम के, सेवा के योग्य हैं और उनके साथ अच्छा व्यवहार करने से पति भी प्रसन्न होता है, परन्तु धारण करने योग्य तो वही पतिदेव

है, जिसको वह वरती है। इसी प्रकार यद्यपि संसार की वस्तुएँ प्रेम योग्य हैं, पर वरने योग्य तो वही देव है। अन्य सब वस्तुएँ तो साथ छोड़ जाती हैं। बस, इनकी सेवा, इनसे प्रेम तो इसी लिए है कि भगवान् प्रसन्न हों। यदि इनके साथ मोह होगा तो यह उस देव को रुष्ट करना होगा। अतः यह वस्तुएँ वरने योग्य नहीं। किसी ने ठीक कहा है कि "प्रेम तो सबसे करो, किन्तु हृदय में स्थान उस ओंकार को ही दो।"

(४) संसार के सब सम्बन्धी जिनसे बड़ा प्रेम किया जाता है, किसी प्रकार का विरोध-भाव उत्पन्न होने पर, या उनके अनुकूल काम न करने पर, गुप्त बातों को प्रकाशित कर देते हैं, जिससे अन्य पुरुषों की दृष्टि में हमें अपमानित और दुःखी होना पड़ता है। बहुत बार द्रव्य की हानि भी होती है, परन्तु वह मित्र तो हमारी हर एक मानसिक क्रिया को, जो गुप्त से गुप्त भी है, जानता है, पर वह किसी को भी बताता नहीं। उसी की कृपा के कारण अपने मानसिक पापों से हमें संसार के किसी सम्बन्धी के सामने लज्जित नहीं होना पड़ता। अतः सर्वोत्तम मित्र, बन्धु पिता और माता वही है और वही वरने योग्य है।

(५) संसार में सूर्य, वायु तथा जल आदि पदार्थ बाह्य अपवित्रता को दूर करते हैं। डाक्टर बाहर के रोगों को ही दूर कर सकता है। माता-पिता बाह्य अपवित्रता को ही दूर करते हैं, परन्तु अन्दर के रोग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की अपवित्रता को संसार के पदार्थ दूर करने में समर्थ नहीं,

क्योंकि वे अन्दर की अपवित्रता को जानते ही नहीं, वे इसे दूर कैसे करें। इनको तो वही वरने योग्य देव दूर करता है। वही मनुष्य से एकान्त में हार्दिक चिंतन करा, उन पापों से रोकता है। इसी जन्म के ही नहीं, अपितु परम्परागत संस्कारों को वह परमात्मा जानते हुए भी किसी को बताता नहीं, अपितु प्राणी के हृदय का संशोधन करता है। मनुष्य का सुधार उसी के हाथ में है, अन्य किसी के नहीं। अतः वही वरने योग्य है।

(६) एक नव विवाहित स्त्री जिस समय पति के घर आती है तो पति की सारी वस्तुओं पर उसका अधिकार हो जाता है और पति के घर की सारी वस्तुएं उसके आधीन हो जाती हैं। कोई भी नववधू के इस अधिकार को मानने से इनकार नहीं करता तथा घर के सब सेवक घर के मालिक की भांति उसकी आज्ञा मानते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति उस परमेश्वर को वर लेता है तो संसार का यह सारा ऐश्वर्य उसी का हो जाता है, और वह जैसा उचित प्रयोग करना चाहे, कर सकते हैं। परमात्मा की कोई वस्तु उससे दूर नहीं रहती। इससे बढ़कर जिज्ञासु और किस फल की आकांक्षा कर सकता है? इसलिए उसी प्रभु को वरना चाहिए और किसी को नहीं। संसार के सब पदार्थों में केवल उसी के प्रति सेवक दृष्टि होनी चाहिये। वही देव साधक को अपना महाराजा प्रतीत हो तथा उसी में साधक का प्रेम हो।

"भर्गो देवस्य धीमहि"

(१) भर्गः–वह तेज का स्रोत है, उसी के संग से सब को तेज प्राप्त होता है।

(२) भर्गः— वह शुद्धस्वरूप है, दूसरों को भी वह शुद्ध कर देता है।

(१) मनुष्य का जन्म इसी उद्देश्य से होता है कि वह अपनी आत्मा की निर्बलता को दूर करे। यदि जीवात्मा में कोई निर्बलता, पाप या मल न हो, तो वह माता के गर्भ में नौ मास का दुःख क्यों भोगे। जो आप ही अपवित्र है, वह दूसरों को कैसे साफ कर सकता है, इसलिये यह 'भर्गः' शब्द उसी ओंकार में घट सकता है, जो कि जन्म-मरण के बन्धन से रहित है तथा मलिनता से दूर है, अतः वह शुद्धस्वरूप है।

(२) प्रकाश के विना मनुष्य गलती करता है, गिरता हैं। अंधेरे में ही अज्ञान है, जो दुःख का कारण होता है। प्रायः रज्जु में सर्प की भ्रान्ति भी अंधेरे में ही होती है, प्रकाश में नहीं। जहां प्रकाश है, वहां पवित्रता है, सुख है, प्रकाश में पाप नहीं होता। चोर, डाकू आदि अंधेरे में ही लूटते हैं, प्रकाश में नहीं। सारा दुःख अंधेरे में ही है, प्रकाश में नहीं। जब प्रकाश देने वाला सूर्य छिपता है तो लोग चाँद, बिजली तथा दीपक आदि का आश्रय लेकर अपना कार्य चलाते हैं। परन्तु

बादल या अंधेरे आदि आने पर जब चाँद छिप जाता है, दीपक बुझ जाते है तो कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। तब भी यह जीव अपनी कर्मेन्द्रियों से अपने कार्य को भली भाँति चला लेता है। अपने कमरे में रक्खी हुई वस्तुओं को मनुष्य टटोल लेता है। माता-पिता की आवाज को मुंह देखे बिना भी वह पहचान लेता है। हाथ से घड़ी आदि को वह पहचानता है। यह प्रकाश (ज्ञान) उसे उसी प्रकाशस्वरूप परमात्मा से प्राप्त होता है, 'भर्गः' है।

(३) मनुष्य अपने शरीर को जल से मकान को झाड़ू से तथा कपड़े को साबुन से साफ करता है। परन्तु जब ये साधन स्वयं स्वच्छ हों, तभी वे शरीर आदि को पवित्र कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार मन की मलिनता को दूर करने का साधन सत्य है। जहाँ पूर्ण पवित्रता है, पूर्ण ज्ञान है तथा पूर्ण प्रकाश है, वहाँ ही सत्य है, वहाँ किसी प्रकार का स्खलन नहीं और यह पवित्रता उसी भर्गः रूप ओंकार में ही है। अन्य सब पदार्थ तो विकारी हैं, जो निर्विकार की ओर नहीं ले जाते।

(४) परमात्मा को पवित्र करने का ढंग भी विचित्र है। वह संसार की अन्य शक्तियों में नहीं पाया जाता और इसीलिए यह भर्गः शब्द किसी अन्य के साथ भी नहीं लग सकता। वह रीति यह है कि जो मनुष्य जिस इन्द्रिय से पाप करता है, वह प्रभु उसके सुधार के लिए उसे ऐसी योनि में भेज देता है जहाँ उससे वह इन्द्रिय छीन ली जाती है। इसका परिणाम यह होता

है कि उसे उस इन्द्रिय के दुरुपयोग की आदत ही भूल जाती है। जैसे यदि किसी योद्धा को तलवार चलाने का बहुत समय तक अवसर न दिया जाय, तो वह उसे चलाना ही भूल जाता है और तब वह उसका दुरुपयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार वह प्रभु इस इन्द्रिय को छीन कर उसके बुरे संस्कारों का समूलोन्मूलन कर देता है। पुनः काफी समय के बाद पवित्रतापूर्ण सदुपयोग के लिए वह इन्द्रिय उस जीव को पुनः दे देता है। जिससे प्राणी पुनः नये सिरे से उत्तम कर्म करने लगते हैं। सोने तथा लोहे को अग्नि में डालने से उनका पूरा का पूरा टुकड़ा गर्म हो जाता है। पुष्पों का रस निकालने वाला उस रस में से कड़ुवापन दूर नहीं कर सकता, वह तो उस रस में अवश्य आयेगा ही। परन्तु परमात्मा दूसरी योनियों में भेज उसके पाप-संस्करों का संशोधन करता है, उसके पवित्र गुणों को नहीं हटाता, वह मनुष्य-योनि में उनका फल सुख प्रदान करने के रूप में अवश्य देता है।

मनुष्य के ऊपर कुछ ऋण हैं, जिनको चुकाने के लिए ही यह मनुष्य जन्म दिया जाता है। जिससे वह उस ऋण से मुक्त हो जावे और उऋणता के सुख को प्राप्त हो। ऋण ही मलिनता है, जो कि आत्मा को अपवित्र बना जन्म-मरण के दुःखों में फंसाता है। पवित्रता में ही सुख है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह पिछले ऋण को चुका दे और आगे के लिए ऋण न ले अर्थात् सकाम कर्म को छोड़ वह निष्काम कार्य किया करे। इस तरह वह भी एक दिन पवित्र हो जावेगा, क्यों वह

भर्ग-प्रभु अकाम है, इसी कारण वह पवित्र है। जो मनुष्य पवित्रता का सुख लेना चाहता है, उसे भर्ग-स्वरूप की उपासना कर तद्रूप हो जाना चाहिए। इससे उसकी मलिनता दूर होगी और कर्म-बन्धन का प्रहाण होगा।

देव:—इसके अर्थ हैं—प्रकाश करने वाला, प्रकाशक, ज्ञान-स्वरूप, ज्ञानदाता तथा प्रकाशस्वरूप आदि।

(१) संसार में दो प्रकार के देव हैं, एक जड़ और दूसरे चेतन। जड़ देव सूर्य, हवा, अग्नि, चन्द्र तथा पृथिवी आदि हैं, क्योंकि ये लोगों को प्रकाश, प्राण, उष्णता, सौभाग्य तथा अन्न आदि देते हैं। परन्तु इनके प्रकाश आदि गुण स्वतः-सिद्ध नहीं, ये सब चेतन से ही इन गुणों की प्राप्ति करते हैं, अर्थात् इनका दाता कोई अन्य चेतन है अतः वह स्वयं परतन्त्र हैं। दूसरी प्रकार के देव माता, पिता, गुरु, तथा विद्वान् लोग हैं, जो दिव्य गुणों वाले होने से ही यह नाम पाते हैं, और इनका ज्ञान भी गुरु आदि के अधीन होने से अल्प हैं, परन्तु इस मन्त्र में देव शब्द "देवों का देव" इस अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि वही इन सभी देवों की शक्ति का कारण है, वही प्रकाशस्वरूप है, अतः वही सबको प्रकाश देता है। वही ज्ञानी है अतः अन्य को भी वही ज्ञान प्रदान करता है। इसी लिये वह स्वतन्त्र है तथा इसी कारण से वह सर्वशक्तिमान् भी है, और अन्तर्यामी भी है।

(२) दोनों प्रकार के देव जहाँ देते हैं, वहाँ कुछ न कुछ लेते भी हैं। वे सेवा भी चाहते हैं। परन्तु देवों का देव देता

ही है लेता नहीं; क्योंकि उसको किसी भी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं। यह अपने आप में पूर्ण है। अन्य सभी कुछ अपूर्ण है। उसकी पूजा भी हमारे अपने कल्याणार्थ ही है। उसे हमारी इस पूजा से किसी प्रकार का लाभ नहीं।

शीत से दुःखी मनुष्य को ही अग्नि और कम्बल की आवश्यकता है; अग्नि और कम्बल को ठिठुरते हुए मनुष्य की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जीव ही परमात्मा की सहायता चाहते हैं, परमात्मा को जीवों की किसी प्रकार की सहायता या सेवा की आवश्यकता नहीं है।

(३) संसार के माता, पिता, गुरु आदि देव क्रोध या नाराज़ीगी आने पर अपने सम्बन्धी को छोड़ देते हैं। सन्तान के कुचेष्टा या आज्ञा भंग अथवा किसी प्रकार के अन्य कुकर्म करने पर माँ-बाप भी उसे छोड़ देते हैं, वे उसे अपनी सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित कर देते हैं, और उसे घर से निकाल देते हैं। परन्तु यह देव ऐसा है कि जीवों के अनेक कुचेष्टाएँ करने पर भी उन्हें अपने से पृथक् नहीं करता और न कभी अपनी ज्ञान आदि की सम्पत्ति से ही उन्हें वञ्चित रखता है। वह कभी भी किसी प्रकार क्रुद्ध होकर किसी से बोलना बन्द नहीं करता। उसका दण्ड भी प्रेम-भावना से जीवों के कल्याण के लिए ही होता है।

(४) दिव् धातु का अर्थ क्रीड़ा भी है, जिससे 'देव' शब्द बनता है। इस तरह इसका अर्थ है गति देना। वह परमात्मा संसार को गति देता है, अन्य कि ी में इस प्रकार की बड़ी शक्ति देने का बल नहीं। मनुष्य किसी वस्तु में कुछ काल के लिए ही गति दे सकता है, जब उसकी दी हुई गति का संस्कार समाप्त हो जाता है, तब वह वस्तु गतिशून्य हो जाती है और उसे पुनः चलाने के लिए चेतन द्वारा गति देने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे एक लड़का जब लट्टू घुमाता है तब वह थोड़ी ही देर के लिए चलता है और फिर बन्द हो जाता है।

परन्तु इस खगोल तथा भूगोल में लगे हुए असंख्य लट्टू एक बार की दी हुई उस महान् प्रभु की गति से सृष्टि के आयु पर्यन्त, अर्थात् ४ अरब बरसों के लगभग, घूमते रहेंगे और बीच में किसी की मरम्मत, तेल, चाबी तथा सफाई आदि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इतनी महान् गति देने वाला वह कितना शक्तिशाली देव है। अतः जिज्ञासुको चाहिए कि वह इन शक्तियों को अपने 'हृदय में स्थान देकर इसका चिन्तन करते हुए अपनी गुप्त' शक्तियों को विकसित करे और देव पदवी को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यह सब अपने वश की ही बात है। जैसे मनुष्य ऋतु-परिवर्तन से पूर्व ही उस ऋतु के अनुसार सामग्री एकत्रित कर लेता है, तथा पशु-पत्ती आदि भी अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तओं का संग्रह कर लेते हैं, इसी

प्रकार मनुष्य को चाहिए, मृत्यु, जिसका आगमन अवश्यम्भावी है, के आने से पूर्व ही गायत्रीमन्त्र मेंवर्णित 'ओम्' आदि शब्दों पर अर्थसहित विचार कर दुःख से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूटनेकी सामग्री का संचय कर ले। यह काम मनुष्य योनि में ही साध्य है, अन्य योनियों में नहीं।

धीमहि—इसका अर्थ हैं—हम ध्यान करें, पूजा करें तथा उसके तेज आदि गुणों को धारण करें, । अर्थात् उस परम प्रभु की आज्ञा का पालन करें।

जिस प्रकार हमारे पूर्वज महात्मा लोगों ने गायत्री आदि मन्त्रों को सजीव करके लाभ उठाया और उसकी महिमा गाई इसी प्रकार जिज्ञासु को भी चाहिए कि वह पूर्ववर्णित गायत्री के भूः, भुवः, स्वः आदि शब्दों द्वारा ओम् की स्तुति करके इनमें कहे हुए गुणों के अनुभव द्वारा संशय रहित हो जाए। इतना करने के पश्चात् नहीं वास्तविक रूप में "धीमहि" शब्द कहना सार्थक होता है अर्थात् उसी दशा में हम उसका ध्यान और स्मरण करते हैं। क्योंकि ओम् आदि आठ शब्दों का यदि निश्चय से साक्षात् नहीं हुआ, उन शब्दों के अतिरिक्त कोई उक्त गुणों वाली जीवित शक्ति हमें प्रतीत ही नहीं हुई, तो हम जाप ही किसका कर रहे हैं ?

जिस प्रकार भौतिक अग्नि का ध्यान करने, उसे जगाने या प्रज्वलित करने का अभिप्राय यह है कि उसको जलाकर उसकी शक्तियों से काम लिया जाये; उसको इतना उकसा

देना कि वह तपाने लगे, शीत को दूर करने लगे, प्रकाश देने लगे, अँधेरे को भगा दे, और हमारा भोजन पकाने का काम दे सके। केवल 'अग्नि' शब्द के ध्यान करने-मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'धीमहि' तभी सार्थक, सजीव अथवा जागृत किया जा सकता है, जब कि इस मन्त्र में वर्णित ईश्वर की स्तुति करने वाले उपर्युक्त शब्दों में ईश्वर के जो गुण वर्णन किये गये हैं, उन गुणों से जिज्ञासु यथाशक्ति काम लेने लग जाये, उन्हें व्यवहार में लाये, अर्थात् अपने जीवन में उन गुणों को धारण कर ले।

जिज्ञासु को इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—"भूः" तू प्राणों का प्राण है, मैं भी प्राणों को धारण करने वाला बनूं, तू प्राणों का देने वाला है, मैं भी दूसरों को प्राण देने वाला बनूं। मैं किसी के प्राणों का हरण न करूं। तू "भुवः" है अर्थात् दुःखों से रहित है, मैं भी अपने जीवन को नियम-पूर्वक रखकर तथा तेरी आज्ञा में चलाकर स्वयं दुःखों से रहित बनूं। तू दूसरों के दुःखों को हरता है, मैं भी दूसरों के दुःखों को हरूँ। तू "स्वः" है, सुख-आनन्द का स्रोत है, मैं भी उन गुणों को धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन भी आनन्दमय बने। तू दूसरों को सुख देता है, उनका कल्याण करता है, मैं भी सबको सुख देने वाला तथा सबका कल्याण चाहने वाला बनूं। तू "सविता" है, तू संसार को प्राणियों के कल्याणार्थ रचता है, मैं भी तेरे पदार्थों के आधार पर संसार में एक रचयिता बनूँ और मेरी

रचना भी संसार के लिए ही हो। तू "वरेण्य" है, वरने योग्य है, सबके प्रेम करने योग्य है और सब तुझे अपना कहते हैं, मैं भी संसार में ऐसे काम करूं, जिससे सब मुझसे प्रेम करें, मुझे वरें और मैं सबका अपना बन जाऊं। मैं किसी से द्वेष न करूँ। तू "भर्गः" है, तू पवित्रता, सत्य और प्रकाश का स्रोत है, मैं भी मन, वचन तथा कर्म से पवित्र व्यवहार करूं, सत्य का आचरण करूं तथा सम्पूर्ण कर्म ज्ञानपूर्वक करूं, जिससे मेरे हृदय में किसी प्रकार का भय, शंका तथा लज्जा पैदा न हो। तू "देव" है, तेरी सम्पूर्ण रचना नियमपूर्वक है, तू कभी अपने नियमों से नहीं टलता, इसी कारण तू न्यायकारी है, मैं भी नियमपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ न्यायाचारी बनूँ। तू आलस्य से रहित है सारे संसार को जीवन देता है, दिन-रात अपना कर्तव्य पालन करता है, मैं भी पुरुषार्थी बन कर अपने कर्तव्यों का पालन करूं और देव-पदवी को प्राप्त होऊं। हे ओ३म, हे सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, हे प्रभु! हे मेरे माता-पिता और गुरु! मैं तेरा ही हूं।

इस प्रकार प्रार्थना तथा चिन्तन करने से जिज्ञासु में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होगी और प्रत्येक प्रकार का सुख तथा लाभ प्राप्त होगा। इसी उपाय से उपर्युक्त सभी शक्तियाँ जिज्ञासु के अन्दर विराजमान हो जायेंगी। यही 'धीमहि' शब्द का सजीव करना, यही उसका जप करना तथा यही उसका फल प्रभु की उपासना है

"धियो यो नः प्रचोदयात्"

धियो यो नः प्रचोदयात्- वह परमात्मा हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दे अर्थात् हमारी बुद्धि को असत्पथ से हटाकर शुभ-कर्मों में लगा हमें देवों जैसा मेधावी बनावे।

लोक-परलोक के कार्यों में सब से अधिक बाधा डालने वाला अहंकार है। इस अहंकार को दूर करना किसी विरले का ही काम है। यह रोग बड़े आदमियों का ही है, क्योंकि विद्वान्, धनी, बली, राजा, महाराजा तथा प्रभुभक्तों में भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ-साथ प्रकृति के चमत्कार भी मनुष्य को सत्पथ से दूर भगाने के कारण बनते हैं। जब जिज्ञासु उपर्युक्त विधि से कुछ काल के लिए स्तुति-प्रार्थना करता है, तो उसमें कुछ शक्तियां आ जाती हैं। जैसे अग्नि के पास बैठने से उष्णता तथा माता के गुणों का ध्यान करने से कोमलता आदि गुण आ ही जाते हैं। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक और संगति से प्रभावित होने वाला प्राणी है। वह स्वयं कुछ नहीं सीखता, अपितु उसे जैसी-जैसी संगति प्राप्त होती है, वैसे-वैसे संस्कार उसमें आ जाया करते हैं। यह भी स्वाभाविक है कि निर्बल बली के पास, मूर्ख विद्वान के पास, निर्धन धनी के पास तथा रोगी वैद्य के पास अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के लिए जाते हैं। यदि दुर्बल अपने से

सबल का सहारा न ले तो फिर उसमें कोई शक्ति आ ही नहीं सकती।

(१) जो जितना शक्तिशाली होगा, उससे उतनी ही बड़ी चीज़ की मांग की जावेगी। महाराजाओं से कभी कोई एक पैसा नहीं माँगता, उनसे तो याचक इतना माँगेगा कि फिर उसे किसी दूसरे के द्वार पर जाकर माँगने की आवश्यकता न रहे।

(२) माँगने पर भी उसी को मिलता है जो अधिकारी हो। अनधिकारी को कुछ नहीं मिलता।

(३) किसी बड़े से मित्रता कर लेने पर बिना माँगे भी वस्तु मिल जाती है। किन्तु मित्रता समान गुण वालों में ही होती है। विपरीत गुणवालों में परस्पर प्रेम नहीं हो सकता। जो पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, पिता उसके बिना माँगे ही उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है। मित्र भी अपने मित्र का उसी दशा में ध्यान करता है, जब वह उस जैसे गुणों को धारण करता है। यदि एक मित्र सात्विक हो और दूसरा शराब आदि असद्व्यवहार करने वाला हो, तो वह अनाचारी उस श्रेष्ठ आचरण वाले मित्र से कुछ प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता। परस्पर नियमानुकूल जीवन बनाने से ही कुछ प्राप्ती हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि वह वैसे ही कर्म करे, जैसे उसके चरमलक्ष्य 'ओम्' में विद्यमान हैं।

(४)खाने,पीने,सोने जागने आदि की इच्छा तो पशु तथा मनुष्य

दोनों में समान रूप से प्राप्त होती है। संसार का ऐश्वर्य भी साधारण बुद्धि से प्राप्त हो जाता है। जिज्ञासु को तो उस राजाओं के राजा, देवाधिदेव से किसी ऐसी वस्तु की याचना करनी चाहिये, जिससे वह लोक-परलोक की सम्पत्ति का अधिष्ठाता बन जाय। महाप्रभु से किसी साधारण वस्तु की याचना करना मूर्खता ही है। उससे तो कोई ऐसी वस्तु माँगनी चाहिये, जिसे पाकर जिज्ञासु के लिए लोक-परलोक दोनों में और कुछ भी माँगना शेष न रहजाय।

(५) संसार की न्यूनताओं के दूर होने के पश्चात् जो विकार जिज्ञासु के हृदय में पैदा होता है, वह अहंकार है। और यह अहंकार परमात्मा से जीव के मेल के मार्ग में एक दीवार के समान है। जब तक इसे न हटाया जावेगा, तब तक परमात्मा से मेल न हो सकेगा। और स्तुति आदि से प्राप्त शक्तियाँ भी इससे नष्ट हो जायेंगी। इसलिए स्वत्ववाली बुद्धि (अहंकार) उत्पन्न ही न हो और यदि उत्पन्न भी हो, तो दूर हो जाए, यही "धियो यो नः प्रचोदयात्" का सजीव करना या उसे जगाना है। अर्थात् इस मन्त्र-भाग का जप करते हुए मनुष्य उस साधारण बुद्धि को छोड़ कर मेधा, प्रज्ञा या ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। लोक तथा परलोक को सिद्ध अर्थात् जीवन को सफल बनाने के लिए और पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त करने के लिए यदि कोई अखण्डनीय नुस्खा है, तो यह उत्तम बुद्धिप्राप्ति का ही है और इसलिए गायत्री-मन्त्र में इसी बुद्धि की प्रार्थना की गई है।

हमारे लिए यदि माता, पिता और गुरु की कोई विशेषता है, तो वह इसी कारण कि वे हमारी बुद्धियों का विकास कर हमें उत्तमता की ओर चलावें, जैसा कि गुरु-मंत्र में कहा है। अर्थात् उनका सारा यत्न इस प्रकार का होना चाहिए कि हमें मेधा प्राप्त हो; वह बुद्धि, जो लोक और परलोक को सुधारने का एकमात्र नुस्खा है। उस बुद्धि की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि आत्म-सुधार का यही सर्वोत्तम उपाय है।

"धियो यो नः प्रचोदयात्" को सजीव करने से साधक में एक विचित्रता पैदा होती है। यह विचित्रता संसार में बड़े-बड़े चमत्कार दिखाती है। यही बुद्धि मनुष्य के संशय दूर कर आत्मविश्वास के सहारे उसे किसी विशेष महान् कार्य में प्रवृत्त करती है, जहाँ साधारण व्यक्ति की गति नहीं होती।

(१) यह इसी बुद्धि का चमत्कार है कि शंकरस्वामी ३२ वर्ष के छोटे-से जीवन में ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले हुए नास्तिकवाद को दूर कर गए।

(२) ऋषि दयानन्द ने अज्ञान अन्धकार को हटा कर वेदों के सूर्य का प्रकाश किया। जिस कार्य को अनेक धुरन्धर विद्वान न कर सके, वही कार्य इस मेधाबुद्धि से ऋषि ने सुकर बना दिया। संसार में वह वेदों का नाद बजा गए।

(३) इस बुद्धि के चमत्कार से ही महात्मा गान्धी, जो कि एक दुबले-पतले से व्यक्ति हैं, अपने विचारों और कर्मों से संसार को चकित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनके विचारों

को ध्यान से पढ़ता और सुनता है। लाखों आदमी उनके विचारों से प्रभावित हो अपने को उन्नत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(४) यह भी बुद्धि का ही प्रभुत्व था, जब कि प्राचीनकाल में ऋषियों के आने पर महाराजा सिंहासन छोड़कर उठ खड़े होते थे और उनके चरणों में सिर नवाते थे। ऋषियों की इसी बुद्धि के प्रभाव के कारण राजा लोग हाथ बांधे उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते थे।

(५) बुद्धि के प्रभाव से ही मध्य-युग में भाट अपनी कविता द्वारा सैनिकों के रक्त को उष्णता दे देते थे, तथा युद्ध की बलि-वेदी पर न्योछावर हो जाने के लिए उन्हें कटिबद्ध कर देते थे।

(६) आज बुद्धि के विकास के परिणाम-स्वरूप ही घर में बैठा पुरुष रेडियो द्वारा सब देशों के समाचार सुन सकता है। आज मनुष्य आकाश में वायुयानों द्वारा पक्षियों की भांति उड़ रहा है और वह अनेक प्रकार के दीर्घकाल में होने वाले कार्य शीघ्र बहुत शीघ्र सम्पन्न करने लगा है।

(७) यह भी बुद्धि का ही गौरव है कि शेर के ऊपर बकरी बैठायी जाती है और शेर कुत्ते से डरने लगता है; एवं अपने स्वाभाविक आहार मांस को छोड़कर हिंसक पशु शेर दुग्धाहारी हो जाता है।

(८) यह अल्पज्ञ प्राणी, जिसका एक मक्खी पर भी अधिकार नहीं, उस राजाधिराज सृष्टि-रचयिता के साथ मित्रता कर

लेता है और उससे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ लेता है कि उसे माता-पिता तथा मित्र आदि नामों से पुकारने में कोई संशय नहीं रहता।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो गया कि बुद्धि की याचना किस लिए की जाती है तथा इस बुद्धि से ही सारे महान् कार्य किस तरह सिद्ध किये जाते हैं। अतः इस बुद्धि को जागृत करना ही इस मन्त्र में अभीष्ट है। यही मनुष्य का वास्तविक तप है, इस लक्ष्य प्राप्ति के जो साधन व्यवहार में लाए जायें, वही तप नाम से पुकारे जाते हैं। उन साधनों को तप नाम से नहीं पुकारना चाहिए, जो इस बुद्धि को जागृत अथवा संचित करने में असमर्थ हैं।

पूर्वोक्त स्तुति-प्रार्थना तभी सजीव होगी, जब यह बुद्धि जागेगी। जितनी यह बुद्धि जागेगी, उतना ही स्तुति और प्रार्थना फलदायक होगी। अतः यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गायत्री का जाप करते हुए यह बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो तथा इसे किस प्रकार शीघ्रता से जगाया जाये, जिससे जिज्ञासु को इसी जन्म में इस गायत्री-मन्त्र के जाप का लाभ अनुभव हो जाए और वह उस आनन्द को प्राप्त कर सके, जिसके लिए यह जप किया जाता है।

(१) जिज्ञासु को पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि बुद्धि-परिवर्तन करने का, अर्थात् बुद्धि को उत्तम बनाने का तात्पर्य यह है कि उसको सूक्ष्म बनाया जाए, जिससे उसमें

सूक्ष्मतम विचारों को धारण करने की शक्ति भी आ जावे। क्योंकि जिज्ञासु का तो कार्य ही उस सूक्ष्मतम तथा परोक्ष सृष्टि के रच-यिता के गुणों को जानकर तथा उनका अनुभव करना है, इसलिए जिज्ञासु को चाहिये कि वह स्थूल (दुष्ट) भोजन स्थूल विचार (बुरे विचार), दुष्ट संगति (असत्य व्यवहार) को छोड़ दे। अथवा इन बातों को धीरे-धीरे कम करते हुए क्रमशः वह सात्त्विक भोजन, सत्संग तथा स्वाध्याय की ओर रुचि बढ़ाने लगे। क्योंकि जितने कम या अधिक समय में कोई मनुष्य इस उपचार को काम में लायेगा, उतने ही समय में तथा उतनी ही मात्रा में उसकी बुद्धि सजीव होगी और उतना ही तथा उसी मात्रा में शीघ्र या देर से गायत्री-मंत्र का जप फलदायक होगा, क्योंकि उस प्रभु के दरबार में जाकर जिस वाणी से उसके साथ बात करनी है उस वाणी की वर्णमाला का पहला अक्षर सत्य ही है।

(२) जो जिज्ञासु पूर्व ही से सात्त्विक भोजन, सत्संग तथा स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हैं, यदि वे इस गायत्री-मंत्र को जगाकर लाभ उठाना चाहें तो उनको आज से ही व्रत अर्थात् दृढ़ संकल्प धारण करना चाहिये। सच्चे व्रतियों की भाँति उसके संकल्प में दृढ़ता होनी चाहिए। इस दृढ़ संकल्प का परिणाम यह होगा कि जिज्ञासु की बुद्धि शीघ्र ही जाग जायेगी। वह शीघ्र ही गायत्री जाप के फल को पा लेगा।

जिज्ञासु ने जिस जगन्माता से यह बुद्धि लेनी है, वह तो सर्वव्यापक होने से उसके अन्दर पहले ही वर्तमान है, वह

उससे दूर नहीं। जिस बच्चे को माता के स्तनों से दूध पीना है, उसकी माता जब उसके पास ही है तो दूध भी उससे कहीं दूर नहीं हो सकता। उस प्रज्ञाबुद्धि से जगन्माता के स्तन सदा भरे रहते हैं, क्योंकि वहां प्रतिक्षण ही आनन्द का स्रोत बह रहा है। वहां इसकी कमी नहीं तो फिर देर किस बात की है? ऐसा जिज्ञासु, जो शीघ्र ही इसके फल को अनुभव करना चाहता है, तथा जिसने सत्संग आदि से अपनी सात्त्विक वृत्ति बना ली है, यदि उसमें अभी कोई कमी बाकी है तो माता उस कमी को स्वयमेव पूर्ण करा लेगी।

इस कारण जिज्ञासु को चाहिए कि वह अपना दृष्टिकोण ही बदल दे अर्थात् यह अनुभव करने लगे कि मेरा अपनी माता की निधि पर पूर्ण अधिकार है और माता के पास जो कोष है, प्रज्ञा-बुद्धि का एक अनुपम अमृत है, उसका मैंने पान करना है। उसी को निस्संकोच हो वह बरतना आरम्भ कर दे। इस कार्य में उसे किसी प्रकार की बाधा का ध्यान न लाना चाहिए। आज्ञाकारी पुत्र अपनी माता की वस्तु को अपना समझता है और उसे प्रत्येक प्रकार से प्रयोग में लाने लग जाता है। उस पर उसका पूर्ण स्वत्व हो जाता है। चाहे वह उसे अपनी माता से मांगे या स्वयं ही ले ले। माता की शक्ति या सम्पत्ति अपने पुत्रों के लिये ही तो है और माता से बढ़कर कोई शक्ति नहीं जो इस में बाधा डाल सके। यदि कोई बाधा है तो वह अपनी ही दुर्बलता

है, इसलिये इस व्रत को धारण करते हुये प्रज्ञाबुद्धि से ही संसार में व्यवहार करना चाहिये। इसके साथ ही साथ इस बुद्धि के लिये प्रार्थना भी अवश्य ही करते रहना चाहिये। इस से कोई भी सांसारिक वस्तु साधक को अपने मार्ग से भ्रष्ट न होने देगी।

एक बात जिज्ञासु को और भी ध्यान में रख लेनी चाहिये। जैसे कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहरता, अपितु उसमें पानी डालने से घड़ा स्वयं गल जाता है, परन्तु पक्के घड़े में पानी मज़े में ठहरता है और तब पानी का घड़े पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार प्रभु के आनन्द का स्रोत सर्वत्र है, वह गायत्री मन्त्र के जाप से ही मिल सकता है, किन्तु उसको धारण करने के लिये सब से पहले मनुष्य को तप द्वारा अपनी इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर को उसके धारण के योग्य बनाना चाहिये। इसलिये जो साधक ऐसा प्रयत्न करेगा, वह शीघ्र ही गायत्री-मंत्र के फल को प्राप्त कर इसी जन्म में आनन्दमय बन जायेगा।

प्रामाणिक व्याख्याएं

पाठकों की जानकारी के लिये गायत्री-मन्त्र की कतिपय प्राचीन और प्रामाणिक व्याख्याएँ यहाँ दी जाती हैं :—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(ऋग्वेद ३ । ४ । ६२ । १०)

१—सायणभाष्य—

यः सविता देवः नोऽस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत् तत् तस्य सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्धस्य देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्-स्रष्टुः परमेश्वरस्य आत्मभूतं वरेण्यं सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्या-तत्कार्ययोर्भर्जनात् भर्गः स्वयं ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि..............वयं ध्यायेम ।

सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद—

जो सविता देव हमारी (धियः) कर्मों अथवा धर्मार्थ सम्बन्धी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करता है (तत्) उस सब श्रुतियों में प्रसिद्ध (देवस्य) दीप्यमान प्रकाशमान चमकते हुये (सवितुः) सर्वान्तर्यामिरूप से सबको प्रेरणा देने वाले और

सृष्टि रचने वाले परमेश्वर के अपने अन्दर से आविर्भूत होने वाले (वरेण्यं) सब लोगों से उपासनीय और ज्ञेय (भर्गः) अविद्या और उसके परिणाम रूप कार्यों का भर्जन नाश करने वाले, स्वयं प्रकाश रूप परब्रह्म रूप तेज का (धीमहि) हम ध्यान तथा चिन्तन करें।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(सामवेद० उ: प्र० ६, अर्द्ध ३, सू० १०)

सायणभाष्य—

सायण ने ऋग्वेद में जैसा लिखा है--सामवेद में भी गायत्री का अर्थ ठीक वैसा ही लिखा है।

२—उव्वट भाष्य —

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(यजु० ३। ३५+३६—३)

तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः आदित्यान्तरपुरुषस्य देवस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणः। वरेण्यं वरणीयम्। भर्गः। भर्गशब्दो वीर्यवचनः। ····· तेन हि पापं भृज्जति दहति। अथा भर्गस्तेजोवचनः। × × × देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य। धीमहि 'ध्यै चिन्तायाम्' अस्य छान्दसं संप्रसारणम्। ध्यायामः चिन्तयामः। निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति यावत्। धियो यो नः। धीशब्दो

बुद्धिवचनः कर्मवचनो वा वाग्वचनश्च। बुद्धीः कर्माणि वा वाचो वा। यः सविता नोऽस्माकं प्रचोदयात् × × प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति तस्य सवितुः सम्बन्धि-वीर्यं तेजो वा ध्यायाम इति सम्बन्धः॥

उव्वट भाष्य का हिन्दी अनुवाद—

(तस्य सवितुः) सबको पैदा करने वाले आदित्य के अन्दर रहने वाले पुरुष के और (देवस्य) हिरण्यगर्भोपाधि से युक्त अथवा विज्ञानानन्द स्वभाव वाले ब्रह्म के (वरेण्यम्) वरणीय वरे जाने के योग्य। (भर्गः) भर्ग शब्द का अर्थ वीर्य है।........क्योंकि इससे पाप का दाह होता है। भर्ग शब्द का अर्थ तेज भी है।........(देवस्य) दानादि गुणों से युक्त (धीमहि) (ध्यै चिन्तायाम्) ध्यै धातु को छान्दस नियमों के अनुसार सम्प्रसारण किया गया है। ध्यायाम चिन्ता करें, विचार करें। चिन्तन करें। (धियो यो नः) धी शब्द के बुद्धि, कर्म और वाणी तीन अर्थ हैं। जो सविता हमारी बुद्धियों, कर्मों और वाणियों को प्रेरणा देता है। उस सविता सम्बन्धी वीर्य अथवा तेज का हम चिन्तन करें।

३—महीधर भाष्य—

तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तर पुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्व-पापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादि

वेदान्तप्रतिपादनं वयं धीमहि ध्यायामः ।.........यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठाय ।

महीधर भाष्य का हिन्दी अनुवाद—

उस (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) प्रेरणा करने वाले अन्तर्यामी विज्ञानानन्द स्वभाव हिरण्यगर्भोपाधि से युक्त अथवा आदित्य में रहने वाले पुरुष अथवा ब्रह्म के (वरेण्यं) स्वीकरणीय अथवा प्रार्थनीय (भर्गः) सब पापों अथवा संसार को नष्टभ्रष्ट या भस्मसात् करने के लिए समर्थ तेज वेदान्त शास्त्रों से प्रतिपादित सत्य-ज्ञान रूप ब्रह्म का हम ध्यान करें। जो (सविता) उत्पादक (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को अच्छे कार्यों के करने के लिए प्रेरित करे।

अथर्ववेद में गायत्री-मन्त्र नहीं है।

४–दयानन्दभाष्य –

गायत्री-मन्त्र का अर्थ जो यजुर्वेद में ऋषि दयानन्द जी महाराज ने किया है, निम्नलिखित है—

I. भूर्भवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ यजुः० अ० ३६। मं० ३ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के

(तत्) उस इंद्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेज स्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें, वैसे तुम लोग भी इसका ध्यान करो ॥३॥

II. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (मन्त्र ३५ । अ० ३)

हम लोग (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वर का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ (भर्गः) पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करने वाला (तेजः) स्वरूप है (तत्) उसको (धीमहि) धारण करें और (यः) जो अन्तर्यामी सब सुखों का देने वाला है वह अपनी करुणा करके (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों को उत्तम उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरित करें ।

III. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (ऋग्वेद मण्ड० ३ सू० ६२ मंत्र १०)

पदार्थ--(तत्) (सवितुः) सकलजगदुत्पादकस्य समग्रैश्वर्य युक्तस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) सर्वेभ्यः उत्कृष्टं प्राप्तुं योग्यम् (भर्गः) भृज्जन्ति पापानि दुःखमूलानि येन तत् (देवस्य) सकलैश्वर्य प्रदातुः प्रकाशमानस्य सर्वप्रकाशकस्य सर्वत्र व्याप्तस्याऽन्तर्यामिणः (धीमहि) दधीमहि (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात्) सद्गुणकर्मस्वभावेषु प्रेरयतु ॥

पदार्थ हिन्दी—हे मनुष्यो ! हम सब लोग (यः) जो (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण

कर्म स्वभावों में प्रेरित करे उस (सवितुः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त स्वामी और (देवस्य) सम्पू ऐश्वर्य के दाता प्रकाशमान् सबके प्रकाश करने वाले सर्वत्र व्य पक अन्तर्यामी के (तत्) उस (वरेण्यम्) सब से उत्तम प्राप्त होने योग्य (भर्गः) पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करनेवाले प्रभाव को (धीमहि) धारण करें।

IV. ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजु० अ० ३६। मं० ३)

इस मन्त्र में जो प्रथम 'ओ३म्' है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। (भूरिति वै प्राणः। यः प्राणयति चराऽचरं जगत स भूः स्वयम्भूरीश्वरः) जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक हो 'भूः' परमेश्वर का नाम है। (भुवरित्यपानः। यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः) जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः) जो नानाविध जगत में व्यापक होके सबका धारण करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह तीनों वचन तैत्तरीय आरण्यक [प्रपा० ७। अनु० ५] के हैं। (सवितुः यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत स सविता तस्य) जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य—यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः) जो सर्व

सुखों का देने हारा और जिसकी प्राप्ति की सब कामना करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम् वर्त्तुमर्हम्) स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ (भर्गः शुद्धस्वरूपम्) शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्म स्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि धरेमहि) धारण करें। किस प्रयोजन के लिए कि (यः जगदीश्वरः) जो सविता देव, परमात्मा (नः अस्माकम्) हमारी (धियः बुद्धी.) बुद्धियों को (प्रचोदयात् प्रेरयेत्) प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! हे अज निरञ्जन निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार जगत्पते ! सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे ! विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदोंभूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि, दधीमहि, धरेमहि, ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह ! हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्। स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करने हारा, जन्म मरणादि क्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट का जाननेवाला, सब का धर्त्ता,

पिता, उत्पादक, अन्नादि से भी विश्व का पोषण करने हारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्म्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग न करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

—सत्यार्थप्रकाश, ३रा समुल्लास

V. ओ३म्' की व्याख्या—

(ओ३म्) जो अकार, उकार, और मकार के योग से (ओ३म्) यह अक्षर सिद्ध है, जो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं जैसे पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है, इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है जैसे अकार से (विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है, इत्यादि नामार्थ आकार से जानना चाहिये। उकार से (हिरण्य-गर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्यादि लोक हैं और जो प्रकाश करने हारे सूर्यादि लोकों का उत्पन्न करने वाला

है। इससे ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं, ज्योतिः के नाम हिरण्य, अमृत और कीर्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बलवाला और सब जगत् का प्रकाशक है, इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये। तथा मकार से (ईश्वर) जो सब जगत् का उत्पादक सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है, (आदित्यः) जो नाश रहित है, (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना, यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया ।

— पञ्चमहायज्ञविधिः

इति

वेद और मानव कल्याण

गंगाप्रसाद उपाध्याय

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

संक्षिप्त जीवनी

जन्म सितम्बर ६, १८८१, बी० ए० (१९०८), एम० ए० (अँग्रेजी) (१९१२), एम० ए० (दर्शन) (सन् १९२३), सरकारी नौकरी से सामाजिक क्षेत्र में भाग लेने के लिये त्याग पत्र (१९१८), डी० ए० वी० हाई स्कूल प्रयाग के प्रिन्सिपल (१९१८-३९), हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक (सन् १९३१), दर्शन परिषद् के सभापति झांसी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में (१९३१), प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा (उत्तर प्रदेश) (१९४१-४५), उपप्रधान सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली (१९४५), मन्त्री सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली (१९४६ से १९५१), वैदिक धर्म प्रचारार्थ दक्षिणी अफ्रीका की यात्रा (सन् १९५०), बर्म्मा सिंगापुर, बैङ्काक की प्रचारार्थ यात्रा (१९५२)

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत ग्रंथ

आस्तिकवाद ५), अद्वैतवाद ५), जीवात्मा ५), मनुस्मृति ५), जीवन-चक्र ५), शांकरभाष्यालोचन ५) सायण और दयानन्द ३), हम क्या खावें-घास या मांस १·५०, कम्युनिज्म २), भगवत् कथा १·२५, सर्व दर्शन सिद्धान्त संग्रह १), राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द ०·६३, शंकर रामानुज दयानन्द ०·३७, आर्योदय काव्यम् दो भाग प्रत्येक १·५०, वैदिक मणिमाला ०·६३, वैदिक विवाह पद्धति ०·३७, वैदिक उपनयन पद्धति ०·१२ वैदिक संस्कृति १·२५।

६८ ट्रैक्ट (प्रथम माला) १६ पृष्ठ ५) सैकड़ा, प्रति -)
२६ ट्रैक्ट (द्वितीय माला) ८ पृष्ठ २॥) सैकड़ा, प्रति)॥
१० भाग धर्मशिक्षा (लड़कों व लड़कियों के लिये)

॥ ओ३म् ॥

वेद और मानव कल्याण

लेखक

वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ, वैदिक मिश्नरी

मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

प्रकाशक

ट्रैक्ट विभाग

आर्य समाज चौक, प्रयाग।

प्रथमबार] १९५९ मूल्य ।=)

प्राक्कथन

जन समाज में इधर वैदिक संस्कृति की बड़ी चर्चा है। इस कारण वेदों के प्रति बड़ी उत्सुकता बढ़ रही है। परन्तु वेद के ग्रन्थ ऐसी भाषा में हैं जो जन समाज की भाषा नहीं, इस कारण साधारण व्यक्ति न उनको पढ़ सकते हैं और न लोगों का ध्यान उधर है।

इस लघु पुस्तिका के लिखने का यह उद्देश्य है कि लोग वेदों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करें। वेदों का कुछ अध्ययन तथा मनन करें।

इस पुस्तिका की कुछ विशेषतायें हैं :—

(१) मनुष्य जीवन के प्रायः सभी आवश्यक अंगों का वर्णन है।

(२) प्रमाण सभी केवल वेद मन्त्रों के हैं। इससे वेदों की विश्वव्यापी शिक्षा की झाँकी मिलती है।

(३) प्रमाण और युक्तियाँ दोनों में आपको बहुत कुछ नवीनता मिलेगी।

(४) व्याख्या सरल है। सभी समझ सकते हैं। लच्छेदार वाक्यों में वैदिक शब्दों के अर्थ आँख से ओझल नहीं होने दिये गये। शब्दों का अर्थ स्पष्ट और सीधा है। व्याकरण की उलझनें नहीं हैं।

(५) उपदेशकों के लिये भी यह बड़े काम की चीज है। थोड़ा सा पढ़कर सैकड़ों व्याख्यानों की सामग्री मिल सकेगी।

(६) जीवन-सुधार में इससे प्रेरणा मिलेगी। हर श्रेणी के मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे।

यदि पुस्तिका वेदों के प्रति कुछ प्रेम उत्पन्न कर सकी तो लेखक समझेगा कि उसका श्रम सफल हो गया।

कला प्रेस,
इलाहाबाद
श्रावणी, सं० २०१६ वि०

गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

अध्याय	विषय		पृष्ठ संख्या
,,	१—वैदिक धर्म की आवश्यकता	....	५
,,	२—वेद क्या हैं ?	....	७
,,	३—वेद पढ़ने के लाभ	....	१२
,,	४—वेद में ईश्वर का स्वरूप	....	१४
,,	५—घरवालों के साथ व्यवहार	....	२१
,,	६—विवाह के नियम	....	२४
,,	७—पंच महायज्ञ	....	२७
,,	८—राष्ट्रीयता	....	३८
,,	९—राष्ट्र गीत	....	४३
,,	१०—समाज संगठन	....	४६
,,	११—धन	....	४९
,,	१२—पशु धन	....	५३
,,	१३—कृषि	....	५९
,,	१४—व्यापार	....	६४

—:o:—

पहला अध्याय

वैदिक धर्म की आवश्यकता

प्रश्न—वैदिक धर्म क्या है ?

उत्तर—वेदों का पढ़ना, उनके अर्थों को समझना और उनके अनुकूल काम करना वैदिक धर्म है।

प्रश्न—वैदिक धर्म से क्या लाभ है ?

उत्तर—इससे मनुष्यों की सब बुराइयाँ दूर होती हैं और भली बातों की प्राप्ति होती है। मनुष्य दुःखों से बचकर सुखों को पाता है।

प्रश्न—कैसे जाना ?

उत्तर—वेद में प्रार्थना है :—

विश्वानि देव सवित दुरितानि परासुव।

यद् भद्रं तन् न आसुव।

(यजुर्वेद अध्याय ३०, मंत्र ३)

हे परमात्मन्! आप सबको अच्छे कामों के लिये प्रेरित करते हैं। ऐसी कृपा कीजिये कि हमारी सब बुराइयाँ दूर हों और जो कुछ हमारे लिये भद्र अर्थात् सुख देने वाला हो उसकी प्राप्ति कराइये।

प्रश्न—क्या वेदों के पढ़ने से सुख मिलता है ?

उत्तर—वेदों को पढ़ने और उनमें दी हुई शिक्षाओं पर आचरण करने से अवश्य सुख मिलेगा। देखो :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजुर्वेद अध्याय ४०, मं० २)

मनुष्य को चाहिये कि वेदों के अनुकूल कर्म करते हुये ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, केवल एक यही मार्ग है, दूसरा नहीं, जिस पर चलने से मनुष्य कर्म के बन्धन से छूट कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

प्रश्न—वेद पढ़ना और उनको समझना तो बहुत कठिन है। सब ऐसा नहीं कर सकते।

उत्तर—मोक्ष पाना भी आसान नहीं है। जैसा गुड़ डालो वैसा मीठा होगा। थोड़ा-थोड़ा ही वेद के विषय में पढ़ने का यत्न कीजिये। इससे बुराइयाँ धीरे-धीरे दूर होंगी। भलाई की ओर प्रवृत्ति होगी। ज्यों-ज्यों पाप कम होंगे पुण्य की वृद्धि होगी और दुःखों से छुटकारा होगा।

प्रश्न—क्या वेदों के पठन मात्र से दुःख छूट सकते हैं ?

उत्तर—जब तक वेदों के अनुकूल आचरण नहीं, केवल पठन मात्र से काम नहीं चल सकता। केवल दवा के नुस्खे को पढ़कर कोई रोग से नहीं छूट सकता। दवा खाने से ही रोग दूर होता है। वेद मन्त्रों के पढ़ने से केवल कर्त्तव्य का ज्ञान होगा। परन्तु जब तक कर्त्तव्य का पालन न किया जाय यथार्थ

लाभ नहीं हो सकता। देखो :—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।

(ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ७१, मंत्र ४)

कोई देखते हुये भी नहीं देखता। कोई सुनते हुये भी नहीं सुनता। अर्थात् जो वेद पढ़कर या उपदेश सुनकर आचरण नहीं करता वह अन्धे और बहरे के समान है।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

(ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ७१, मंत्र ५)

उसे ऐसा समझिये जैसे कोई जादू की गाय लिये फिरता हो। वह दूध नहीं देती। इसी प्रकार जो वेद की शिक्षा का पालन नहीं करते वे वेद विद्यारूपी वृक्ष के फल और फूलों से लाभ नहीं उठा सकते।

इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि वेद पढ़ें, समझें और उन पर आचरण करें। जो पूरे वेद नहीं पढ़ सकते, वे ऐसी छोटी पुस्तकें पढ़ें जिनमें वेदों की शिक्षा दी हुई हो।

दूसरा अध्याय

वेद क्या हैं ?

प्रश्न—वेद क्या हैं ?

उत्तर—वेद चार अत्यन्त प्राचीन धर्म ग्रंथों के नाम हैं।

पहला ऋग्वेद, दूसरा यजुर्वेद, तीसरा सामवेद और चौथा अथर्व वेद। इनसे पुराना कोई अन्य धर्मशास्त्र नहीं है। जो अन्य धर्म ग्रंथ बने हैं वे सब वेदों से पीछे बने हैं।

प्रश्न—वेदों को किसने बनाया है ?

उत्तर—वेदों को किसी मनुष्य ने नहीं बनाया। सृष्टि के आरम्भ में जब ईश्वर सृष्टि बनाता है तो मनुष्य मात्र की भलाई के लिये ऋषियों के हृदयों में वेदों का प्रकाश करता है। सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषि हुये एक का नाम *अग्नि* था। उस ऋषि के हृदय में *ऋग्वेद* का प्रकाश हुआ। दूसरे ऋषि का नाम *वायु* था। उसके हृदय में *यजुर्वेद* का प्रकाश हुआ। तीसरे ऋषि का नाम *आदित्य* था। उसके हृदय में *सामवेद* का प्रकाश हुआ। चौथे ऋषि का नाम *आङ्गिरा* था। उसके हृदय में *अथर्ववेद* का प्रकाश हुआ। इन चारों ऋषियों ने परस्पर सहयोग से संसार के अन्य मनुष्यों में इन वेदों का प्रचार किया। फिर ऋषि होते गये जिन्होंने वेद मंत्रों की व्याख्यायें की और दूसरे ग्रंथ लिखे। इन सबको वैदिक शास्त्र कहते हैं।

प्रश्न—इसके लिये प्रमाण दीजिये।

उत्तर—देखिये।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(यजुर्वेद अध्याय ३१, मंत्र ७)

उस सबके पूजनीय परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, छन्द

अर्थात् अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुये।

प्रश्न—चार वेद अलग-अलग क्यों हैं ? धर्म ग्रंथ तो एक होना चाहिये था।

उत्तर—मूलवेद तो एक ही है। यह चार शाखा हैं। जैसे वृक्ष तो एक ही होता है परन्तु उसकी शाखायें, पत्ते, फूल और फल अलग-अलग होते हैं। उन सबमें मूल वृक्ष का ही रस काम करता है। इसी प्रकार मूल वेद तो ऋग्वेद ही है। शेष वेद उसी का रूपान्तर हैं।

पूर्वमीमांसा में महर्षि जैमिनि ने लिखा है।:—

गीतिषु सामाख्या।

(पूर्वमीमांसा अध्याय २, पाद १, सूत्र ३६)

अर्थात् ऋग्वेद के मंत्र जब गान विद्या के नियमों के अनुसार गाये जाते हैं तो उनको 'साम' कहते हैं। केवल मन्त्रों को साम नहीं कहते। नियमानुसार गाये हुये मन्त्र "साम" कहलाते हैं। आदित्य महर्षि ने ऋग्वेद के मन्त्रों को गानविद्या के अनुसार स्वर ताल आदि से ठीक कर दिया। वही सामवेद कहलाया। जैसे सामवेद का पहला मन्त्र है :—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्य दातये।

नि होता सत्सि बर्हिषि।

(सामवेद पूर्वार्चिक १।१।१)

यह मूलतः ऋग्वेद के छठवें मंडल के सोलहवें सूक्त का दसवां मन्त्र है। दोनों वेदों में एक ही शब्द हैं। एक ही ऋषि अथात्

भरद्वाज-बार्हस्पत्य, एक ही देवता 'अग्नि'। एक ही छन्द 'गायत्री'। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर भी एक ही हैं। अर्थात् जो ऋग्वेद में उदात्त है वह सामवेद में भी उदात्त है। जो ऋग्वेद में अनुदात्त है वह सामवेद में भी अनुदात्त है। जो ऋग्वेद में स्वरित है वह साम में भी स्वरित है। केवल लेखन शैली में भेद है। ऋग्वेद में स्वर आड़ी और तिर्छी लकीरों द्वारा बताये गये हैं। साम वेद में १, २, ३ आदि अंक दिये हैं। मन्त्र एक ही है। परन्तु साम वेद में गाने का ढंग अलग है। इनके नाम हैं, रथन्तर साम, बृहत् साम, वैरूप साम, वैराज साम, शाकर साम, रैवत्साम। (देखो यजुर्वेद अध्याय १० मन्त्र, १०-१४) कुछ सामगानों के अलग अलग नाम भी हैं। जैसे वामदेव्य गान, यज्ञायज्ञिय गान (देखो यजुर्वेद १२-४)।

गाने की शैली का नाम साम है। जिस ऋग्वेद की ऋचा पर वह साम गान किया जाता है वह ऋचा उस साम की "योनि" कहलाती है। इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि ऋग्वेद अलग है और साम अलग। जो लोग केवल ऋग्वेद को पढ़ते थे गाते नहीं थे वे ऋग्वेदीय कहलाते थे। जो गाना जानते थे वे सामवेदीय कहलाते थे। इसी प्रकार ऋग्वेद के ही मन्त्रों के आधार पर 'वायु' ऋषि ने यज्ञ, क्रिया कौशल तथा व्यवहार के अन्य कृत्यों का प्रचार किया। उसका नाम यजुर्वेद हुआ। अंगिरा ऋषि ने ऋग्वेद के आधार भूत कुछ मन्त्रों का विस्तार से वर्णन किया। उसमें चिकित्सा, कृषि, राष्ट्र, विवाह आदि

कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह अथर्ववेद हो गया। यह चारों ऋषि समकालीन थे। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में हुये। इसीलिये चारों वेदों में चारों का नाम आता है देखो :—

(१) ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ।

(ऋग्वेद १० । ८५ । ११)

ऋक् और साम के समान दो गायें।

(२) विश्वेदेवा अनु दत् ते यजुर्गुः।

(ऋग्वेद १० । १२ । ३)

सब देव पीछे से तेरे यजु का गान करते हैं।

(३) अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या।

(ऋग्वेद १० । २१ । ५)

अथर्वा से उत्पन्न हुई विद्या ने समस्त काव्यों का ज्ञान प्राप्त किया।

यहाँ ऋग्वेद में साम, यजु और अथर्व का वर्णन है।

अब यजुर्वेद देखिये :—

(१) ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः।

(यजुर्वेद ४ । ९)

ऋक् और साम दो शिल्प हैं।

(२) अथर्वभ्यो अवतोकान्।

(यजुर्वेद ३० । १५)

अब अथर्व वेद देखिये :—

यत्र ऋषयः प्रथमजाः ऋचः सामयजुर्मही ।
एकर्पिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भंतं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।
(अथर्व वेद १० । ७ । १४)

अर्थात् सबसे पहले सृष्टि में उत्पन्न हुये ऋषियों ने ऋक्, यजु, साम का ज्ञान प्राप्त किया इत्यादि ।

सामवेद में तो प्रायः ऋग्वेद की ही ऋचायें हैं ।

इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्व वेद समकालीन हैं और एक ही वेद की चार शाखायें हैं । इनको उपचार की भाषा में वेदत्रयी अथवा वेद-चतुष्ठथ कहा जाता हैं । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न प्रकरणों में वही मन्त्र बार-बार चारों वेदों में मिलते हैं । इसको पुनरुक्ति दोष न कहकर अनुवाद कहते हैं ।

तीसरा अध्याय

वेद पढ़ने के लाभ

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृ्ंत रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिःमंधूदकम् ॥
(ऋग्वेद मंडल ९, सूक्त ६७, मंत्र ३२)

(यः) जो मनुष्य, (ऋषिभिः संभृंत) ऋषियों द्वारा सुरक्षित,

(पावमानीः) पवित्र, (रसम्) रस का, (अध्येति) अध्ययन करता है, (सरस्वती) वेद विद्या, (तस्मै) उस पुरुष के लिये, (क्षीरं) दूध, (सर्पिः) घी, (मधु) शहद, (उदकम्) जल, (दुहे) देती है।

सृष्टि की आदि में जो वेद रूपी ज्ञान का आविर्भाव हुआ उसको ऋषियों ने स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा जीवित और सुरक्षित रक्खा। इसी का नाम सरस्वती है। वेद विद्या सदा रहती है। वह रसीली है। जो वेद विद्या का अध्ययन करता है उसे विद्या स्वयं ही दूध, घी, शहद और जल देती है। अर्थात् वेद विद्या के पढ़ने से लौकिक और पारलौकिक शान्ति होती है।

अथर्ववेद में भी कहा है :—

स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

(अथर्ववेद १९-७१-१)

(वरदा वेदमाता मया स्तुता) मैंने वर देने वाली वेद माता की स्तुति की, (प्रचोदयन्तां द्विजानां पावमानी) जो विद्वान लोग इस वेद माता की प्रेरणा प्राप्त करते हैं उनको वह पवित्र करती है, हे वेद के विद्वान् लोगों, (मह्यं) मुझे, (आयुः) जीवन, (प्राण) प्राण शक्ति, (प्रजां) सन्तान, (पशुं) पशु धन, (कीर्ति) यश, (द्रविणं) धन, (दत्वा) देकर, (ब्रह्मलोक) मोक्ष को, (व्रजत) प्राप्त हूजिये।

इसका तात्पर्य यह है कि वेद के पढ़ने पढ़ाने और उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करने से इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के पश्चात् निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। अर्थात् लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं। इसलिये वेद पढ़ना चाहिये।

चौथा अध्याय

वेद में ईश्वर का स्वरूप

(१) ईश्वर *सृष्टि का कर्ता* अर्थात् रचने वाला है। देखो :—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवींचान्तरिक्षमथो स्वः ॥

(ऋ० मंडल १०, सू० १९०, मं० ३)

विधाता अर्थात् ईश्वर ने सूर्य्य चन्द्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ लोक और अन्य सब लोकों को पूर्व के समान बनाया। अर्थात् ईश्वर कल्प कल्पान्तरों में ऐसी ही सृष्टि रचा करता है। ईश्वर अनादि और अनन्त है। उसका स्वभाव भी अनादि और अनन्त है। ईश्वर का स्वभाव ही सृष्टि रचना है। अतः ईश्वर हर कल्प में एक सी सृष्टि बनाता है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ

अरम्णात् । यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ।

(ऋ० मंडल २, सू० १२, मंत्र २)

हे संसार के लोगों! ईश्वर वही है जिसने हिलती हुई (पिघलती हुई) पृथिवी को ठोस किया, जिसने हिलते हुये पहाड़ों को थामा । जिसने इतने बड़े अन्तरिक्ष को बनाया और जिसने द्यौलोक को सुस्थित किया ।

प्रश्न—कुछ लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते ।

उत्तर—भूल है । वेद में ईश्वर को 'कर्ता' कहा गया है ।

देखो ऋ० मंडल ४, सू० १७, मंत्र १७

सखा पितृतमः पितृणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ।

(ईश्वर सखा) हितैषी, (पिता) पालक, (पितृ णाम पितृतम) संसार में जो रक्षक हैं उन सब में श्रेष्ठ रक्षक है, (कर्ता) वह कर्ता है, (ईम् उ) निश्चय रूप से, (उशते) भक्त के लिये, (वयोधा) दीर्घजीवन या सम्पत्ति का दाता है । यहां 'कर्ता' शब्द स्पष्ट दिया है ।

(२) ईश्वर सर्वव्यापक और निराकार है ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजुर्वेद अ० ४०, मंत्र ८)

(स परि-अगात्) ईश्वर सर्वत्र है, (शुक्रम) स्वच्छ और निर्मल है, (अकायम्) निराकार है, (अव्रणम्) त्रुटि-रहित है, (अस्नाविरम्) वह नाड़ी, नस के बन्धन में नहीं आता। अर्थात् जैसे जीव शरीर धारण करके नाड़ी नस के बंधन में आते हैं वैसे ईश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता, (शुद्धम्) ईश्वर शुद्ध है, (अपापविद्धम्) कभी पाप उसको बींध नहीं सकता, (कविः) ज्ञानवान् है, (मनीषी) सोचने वाला है, (परिभूः) सारे संसार को घेरे हुये है, कुछ भी उसके बाहर नहीं, (स्वयंभूः) उसकी स्थिति किसी दूसरी चीज पर आधारित नहीं है, (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) उसने अपनी सदा रहने वाली नित्य, अजर, अमर प्रजा के लिये, (व्यदधात्) विधान बनाया, (यातातथ्यतः) जैसा चाहिये वैसा।

इन मन्त्रों में इतनी बातें दी हुई हैं :—

(१) ईश्वर एक है। (२) वह निराकार है। (३) वह शरीर कभी धारण नहीं करता। राम कृष्ण आदि श्रेष्ठ पुरुष थे। वे ईश्वर के अवतार नहीं थे। क्योंकि वे नस-नाड़ी के बन्धन में थे, जो गर्भ में आता है नस-नाड़ी के बन्धन में आ जाता है। ईश्वर ऐसा नहीं है। (४) ईश्वर शुद्ध, निर्मल और ज्ञानी है। (५) वह अजर अमर परन्तु अल्प जीवों के लिये ठीक ठीक विधान बनाता है, जीव कभी उत्पन्न नहीं होते। अजर और अमर तथा नित्य हैं। इसलिये उनको 'शाश्वतीः समाः' (नित्य रहने वाली प्रजा) बताया। जीव नित्य भी है और निराकार भी

परन्तु 'अस्नाविरम्', 'अव्रणम्', 'अपापविद्धम्' अर्थात् नस नाड़ी के बन्धन में न आने वाले नहीं। वह पाप में भी बिंध सकते हैं। सब प्राणि अज्ञानवश पाप करते हैं। अतः पाप से बचने के लिये 'विधान' अर्थात् ज्ञान की अवश्यकता है। परमात्मा इसी विधान को बनाता है। (देखो "व्यदधात्")। वह विधाता (धाता) है। विधान दो प्रकार का है। वेद रूप ज्ञान जो ईश्वर ऋषियों के हृदयों में देता है। और सृष्टि-क्रम जिसको भलीभांति देखकर मनुष्य सृष्टि के नियमों की खोज करता है। विद्वान् वेदज्ञ वेदों को पढ़कर सृष्टि के नियमों को जानते हैं। इसी का नाम शास्त्र है। जो सृष्टि का निरीक्षण करके इन नियमों को जानते हैं, वह वैज्ञानिक या सायंस जानने वाले कहलाते हैं। इस प्रकार वेद की शिक्षा और सायंस एक दूसरे के विरुद्ध नहीं अपितु पूरक हैं। सायंस बताती है कि सृष्टि के अटूट्य नियम हैं जिनका कोई उलङ्घन नहीं कर सकता। इन्हीं नियमों के जानने का नाम सायंस (विज्ञान) है। इस ज्ञान के कई वर्गीकरण हुये हैं—जैसे भौतिकी (फिजिक्स Physics), रसायन (कैमिस्ट्री Chemistry), शरीर शास्त्र (फिजियालोजी Physiology) मनोविज्ञान (साइकोलोजी Psychology) इत्यादि। यह सब शास्त्र अलग-अलग नहीं हैं। इनके मौलिक नियम एक हैं। सृष्टि में कोई ऐसी सत्ता है जो इन सब नियमों को समन्वित करती रहती है। तृण से लेकर सौर्य मण्डल तक और क्षुद्र कीट पतंग से लेकर हाथी आदि बड़े प्राणियों तक सब में यह नियम

एक से हैं। जब एक से नियम हैं तो कोई इनका एक नियन्ता होगा जो इन नियमों को एक सूत्र में बांधे रक्खे और अलग न होने दे। वेदों में इसी नियन्ता को ब्रह्म कहा है। देखो—

योविद्यात् सूत्रं विततम्,
यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात,
स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥

(अथर्ववेद कां० १०, सूक्त ८, मंत्र ३७)

यहाँ प्रश्न यह था कि ब्रह्म का सच्चा ज्ञान किसको है। इसका उत्तर वेद के इस मन्त्र में दिया है कि केवल वही मनुष्य 'ब्रह्म' को जानता है जो उस नियम को जानता है जो सारी सृष्टि में ओत प्रोत हैं। (यस्मिन ओताः प्रजाः इमाः)। और जो इस नियम के भी मूल नियम को जानता है। अर्थात् जो सृष्टि के नियमों का निरीक्षण नहीं करते और सायंस या विज्ञान की अवहेलना करते हैं वह ब्रह्म को नहीं जान सकते क्योंकि वह ब्रह्म के नियमों को नहीं जानते। वह मन मानी या सुनी सुनाई कल्पना करके ईश्वर के कल्पित स्वरूप को मान बैठते हैं। कोई पीपल के वृक्ष को ईश्वर समझकर उसकी पूजा करते हैं कोई गंगा ही को ईश्वर समझता है। कोई हिमालय पर्वत को, कोई बैल या सर्प को। कोई मनुष्य को। कोई कंकड़ पत्थर को। वह नियन्ता के नियमों का निरीक्षण नहीं करता। वेद मन्त्र में

बताया गया है कि सच्चा सायंसज्ञ वही है जो ब्रह्मवित् है और सच्चा ब्रह्मवित् वही है जो विज्ञान-वित् है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है :—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।

(ऋग्वेद मंडल १, सूक्त २२, मंत्र १९)

सृष्टि में फैले हुये ईश्वर के कर्मों अर्थात् नियमों को देखो। उन्हीं को देखकर तुम अपने कर्त्तव्य को ठीक ठीक समझ सकते हो। जो केवल तोते की भाँति वेद मन्त्र पढ़ता है और ईश्वर के नियमों की ओर नहीं देखता वह ईश्वर को नहीं समझ सकता। ईश्वर के पूजने वाले संसार में बहुत कम हैं। ईश्वर के स्थान में मनुष्य, ईंट, पत्थर, नदी, पहाड़ आदि को पूजने वाले बहुत हैं। इसी भ्राँति के कारण मनुष्य दुःख भोगता है। वेद में तो साफ लिखा है कि ईश्वर को छोड़कर किसी दूसरे की पूजा मत करो। देखो :—

मा चिदन्यद् विशंसत। सखायो मा रिषण्यत।

(ऋग्वेद मंडल ८, सूक्त १, मन्त्र १)

किसी अन्य की पूजा मत करो। हे मित्रों ऐसा पाप मत करो। अर्थात् ईश्वर के स्थान में दूसरे किसी की पूजा करना महा पाप है इससे बचना चाहिये।

प्रश्न—ईश्वर की पूजा की ठीक विधि क्या है ?

उत्तर—ईश्वर के नियमों का चिन्तन करना ही ईश्वर पूजा है। मन में ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। और ईश्वर के गुण

कर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुण कर्म और स्वभाव बनाने चाहिये । देखो :—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।

(यजुर्वेद अध्याय ३७-२, ११-४, ५-१४)

(विपश्चितः विप्राः) मेधावी विद्वान लोग, (बृहतः विप्रस्य) सर्वज्ञ ईश्वर में, (मनः युञ्जते) ध्यान लगाते हैं और, (धियो युञ्जते) अपनी बुद्धियों को तदनुकूल बनाते है, (एकः वयुनाविद्) एक सृष्टि के नियमों का जानने वालों विद्वान्, (होत्रा विदधे) यज्ञ का विधान सम्पादित करता है, (देवस्य सवितुः) जगत् के प्रेरक ईश्वर की, (परिष्टुति) स्तुति, (इन् मही) निस्सन्देह बहुत बड़ी है ।

अर्थात् ईश्वर में इतने गुण हैं कि विद्वान् मनुष्य सदा उन गुणों का चिन्तन करता रहता है और उन्हीं गुणों के अनुकूल आचरण करके अपना और संसार का भला करता है ।

गायत्री मंत्र में भी यही उपदेश है । अर्थात्

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

(यजुर्वेद अध्याय ३, मंत्र ३५)

(सवितुः) जगत् नियन्ता, (देवस्य) देव के, (वरेण्यं) प्राप्त करने

योग्य (भर्गः) पाप को नष्ट करने वाले गुण को, (धीमहि) हम धारण करें। (यो) जो, (नः) हमारी, (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करे।

इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि केवल हाथ जोड़ने या मन्त्र पढ़ने से ईश्वर की पूजा नहीं होती। ईश्वर के गुणों का चिन्तन करने, उसकी सृष्टि का गंभीरता से अवलोकन करने और अपने गुण कर्म और स्वभाव को ईश्वर के गुण कर्म और स्वभावों के अनुकूल बनाने से ही मनुष्य का कल्याण होता है। गुड़-गुड़ कहने से मुंह मीठा नहीं होता, गुड़ खाने से मीठा होता है। केवल ईश्वर-ईश्वर कहने से ईश्वर-पूजा नहीं होती, ईश्वर के उपदेशों पर कार्य करने से ईश्वर पूजा होती है।

पाचवाँ अध्याय

घरवालों के साथ व्यवहार

प्रश्न—एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये।

उत्तर—सबको मित्र के समान देखना चाहिये :—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे ।

(यजुर्वेद अ० ३६ । १८)

मुझे सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखें ।
मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं ।
हम सब एक दूसरे को मित्र की आँख से देखें ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।

(अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त ३०, मन्त्र १)

जैसे (अघ्न्या) गाय (जातं वत्सं इव) अपने नये बछड़े को प्यार करती है उसी प्रकार (अन्यो अन्यं अभिहर्यत) एक आदमी को दूसरे के साथ व्यवहार करना चाहिये ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।

(अथर्व वेद ३ । ३० । ३)

भाई भाई से द्वेष न करे । बहन बहन से द्वेष न करे ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

(अथर्व० ३ । ३० । २)

पुत्र पिता के अनुकूल व्रत का पालन करे । माता के साथ उसका भाव सम्मान का हो ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।

(अथर्व० ३ । ३० । २)

स्त्री पति के साथ मीठी और शान्ति देने वाली बातें किया करे । कभी कठोर वचन न बोले ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।

(ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८५, मन्त्र ४२)

हे पति और पत्नी तुम दोनों, (इहैव स्तम्) घर में ही रहो, (मावियौष्टम्) कभी तुम में वियोग अर्थात् अनबन न हो, (विश्वं आयुः व्यश्नुतम्) पूरी आयु को प्राप्त होओ, (क्रीडन्तौ पुत्रैः नप्तृभिः) पुत्रों तथा नाती पोतों के साथ आनन्द करो, (स्वे गृहे) अपने घर में (मोदमानौ) मौज करते रहो ।

इन मन्त्रों में बताया है कि परिवार के लोगों को एक दूसरे के साथ प्रेम से बरतना चाहिये । कभी लड़ाई, झगड़ा, द्वेष और कलह नहीं करनी चाहिये । इससे सन्तान की भी वृद्धि होगी । और जीवन के शान्तिमय रहने से रोग और व्याधियाँ नहीं होंगी तथा मनुष्य दीर्घ आयु होंगे । जिन घरों में परिवार के लोगों में कलह होती है वहाँ मन सदा चिन्ता में रहता है । मानसिक और शारीरिक रोग बढ़ते हैं । और आयु क्षीण हो जाती है । लड़ाई झगड़ों और तनातनी में लोगों का मन चिड़-चिड़ा हो जाता है । बहुत सी स्त्रियाँ पतियों के दुर्व्यवहार के कारण और बहुत से पुरुष पत्नियों के दुर्व्यवहार के कारण मलीन-हृदय, शंकित, चिड़चिड़े और पागल भी हो जाते हैं । जो लोग घर में अपने नाती पोतों के साथ खेलते और आनन्द में रहते हैं वह बड़ी आयु तक जीवित रहते हैं । इसीलिये वेद में "मोदमानौ" शब्द आया है ।

छठवाँ अध्याय

विवाह के नियम

प्रश्न—वेद में विवाह के क्या नियम हैं ?

उत्तर—स्त्री पुरुष युवा अवस्था में विवाह करें।

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥

(ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त २७, मन्त्र १२)

(कियती योषा) कौन स्त्री, (पन्यसा वार्येण) शुभ गुणों के द्वारा, (वधूयोः मर्यतः परिप्रीता) वधू की इच्छा करने वाले युवा मनुष्य को प्यारी होती है, (यत्) जो, (सुपेशाः) सुन्दर, (भद्रा) कल्याणकारिणी, (वधूः) वधू, (स्वयं भवति) स्वयं होती है, (सा) वह युवती, (जने) लोगों में से, (चित्) एक को, (मित्रं वनुते) मित्र बना लेती है।

इस मन्त्र में स्वयंवर प्रथा का वर्णन है। सुन्दर और बुद्धिमती युवती युवावस्था को प्राप्त करके स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार ऐसे पुरुष को अपना पति चुने जो शुभ गुण सम्पन्न है और जो वधू का इच्छुक है। और वधू से प्रीति करता है।

अथर्ववेद में लिखा है :—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करके कन्या युवा पति को प्राप्त करे। इससे स्पष्ट है कि न बाल-विवाह होना चाहिये न वृद्ध-विवाह। विवाह युवा और युवती का ही होना चाहिये। और दोनों की अपनी इच्छा के अनुसार।

प्रश्न—एक स्त्री का एक पुरुष से ही विवाह हो अथवा एक स्त्री का कई पुरुषों के साथ या एक पुरुष का कई स्त्रियों के साथ।

उत्तर—एक पुरुष का एक साथ एक ही स्त्री से विवाह होना चाहिये। एक पुरुष का एक साथ कई स्त्रियों से या एक स्त्री का कई पुरुषों से विवाह वेद की शिक्षा के अनुकूल नहीं है।

प्रश्न—इसके लिये प्रमाण दीजिये।

उत्तर—हम ऋग्वेद का १०-८५-४२ मंत्र दे चुके हैं :—

'इहैव स्तं' इत्यादि, इसको पढ़िये और विचार कीजिये, इसमें 'स्तं' 'मा वियौष्टं', 'व्यश्नुतम्', 'क्रीडन्तौ', 'मोदमानौ' यह क्रियाशब्द और संज्ञा शब्द द्विवचनान्त हैं, इससे सिद्ध है कि एक ही पति-पत्नी का विधान है। (दम्पती) शब्द भी द्विवचनान्त है अर्थात् 'जाया च पतिश्च'। एक स्त्री और उसका एक पति। विवाह के समय पति इन मंत्रों को पढ़ता है :—

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव।

(अथर्व वेद १४-१-५१)

गृहस्थ धर्म के पालन रूप व्रत के द्वारा तू मेरी पत्नी है और मैं तेरा गृहपति हूँ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम्।
(अथर्ववेद १४-१-५२)

इस स्त्री के पोषण का भार मेरे ऊपर है। हे पत्नी ईश्वर ने तुझे मुझको सौंपा है। मुझ पति के साथ तू सन्तान वाली और सौ वर्ष तक जीती रह।

यहाँ एक ही पति, पत्नी का उल्लेख है।

पत्नी की प्रार्थना के यह मंत्र हैं :—

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन् नौ सहासति॥
(अथर्ववेद ७ ३६-१)

हम दोनों की आँखें मधु के समान आनन्द देने वाली हैं। हम दोनों के मुख कोमल और मृदु हैं। मुझे अपने हृदय में बिठाल। हम दोनों के दो शरीरों में एक ही मन हो। अर्थात् प्रेम से रहें।

अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥
(अथर्ववेद ७-३७-१)

मैं तुझे प्राचीन प्रथा के अनुसार अपना वस्त्र देती हूँ। जिससे तू केवल मेरा ही हो। अन्य किसी स्त्री से प्रेम न करे।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि एक स्त्री और एक पुरुष का ही विवाह होना चाहिये।

स्त्री को पतिव्रता और पुरुष को पत्नीव्रत होना चाहिये। इसी बात को आप दूसरे प्रकार से सोचें। पतिव्रता स्त्री वह है जो दूसरी स्त्री के पति का ध्यान न करे। कल्पना कीजिये कि एक स्त्री है जिसका नाम है विमला। एक दूसरी स्त्री है कमला जिसका पति है मोहन। यदि विमला पतिव्रता है तो वह कमला के पति मोहन से विवाह की बात सोच भी नहीं सकती क्योंकि मोहन परपति है कमला का पति है। इस प्रकार जो पुरुष कई स्त्रियों को पत्नी बनाते हैं उनकी पत्नियाँ पातिव्रत का पालन नहीं कर सकतीं। क्योंकि वह पति अपना भी है और परपति भी है। पुरुष तो किसी प्रकार भी पत्नी-व्रत नहीं धारण कर सकता। इस प्रकार बहु स्त्री विवाह में पातिव्रत और पत्नी-व्रत दोनों का खंडन होता है।

सातवाँ अध्याय

पंच महायज्ञ

यज्ञ का साधारण मौलिक अर्थ है जीवन को विकसित करने की क्रियायें। यजुर्वेद के ९ वें अध्याय के २१ वें मंत्र में लिखा है *'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'*। अर्थात् मनुष्य का जीवन यज्ञ के द्वारा

विकसित या संवृद्ध हो। जैसे वृक्ष के अङ्कुर को बढ़ाने के लिये माली अनेक क्रियायें करता है उसी प्रकार मनुष्य के शारीरिक, सामाजिक, मानसिक, तथा आत्मिक विकास के लिये कुछ मूल कृत्यों की आवश्यकता है। यही कृत्य यज्ञ हैं। कुछ लोग समझते हैं कि यज्ञ का अर्थ आग जलाकर आहुति देना है, यह भूल है। किसी किसी यज्ञ में आग जलाने और आहुति देने की आवश्यकता होती है। उसे होम कहते हैं। होम किसी किसी यज्ञ का एक भाग है। यज्ञ का वास्तविक प्रयोजन है मनुष्य का विकास।

यज्ञ पाँच हैं। पहला ब्रह्म यज्ञ है। अर्थात् हर मनुष्य को ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। ब्रह्म यज्ञ में अग्नि जलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ध्यान करना ब्रह्म यज्ञ का मुख्य अङ्ग है।

स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत्।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो विदुरो अभि द्यौत्॥

(ऋ० ४-४-६)

(यः) जो पुरुष, (ईवते ब्रह्मणे) क्रियाशील ब्रह्म के लिये, (गातुं ऐरत) स्तुति गान करता है, (यविष्ठ) हे सबसे बलवान ईश्वर, (स ते सुमतिं जानाति) वही तेरी सुमति को जानता है, (अस्मै) उसके लिये, (विश्वानि सुदिनानि) सब अच्छे दिन, (रायः) धन, (द्युम्नानि) प्रतिभायें प्राप्त होती

हैं, (स अर्थः) वह ज्ञानी मनुष्य, (दुरः) अपने घरों को, (वि अभि द्यौत्) भली भाँति चमकाता है।

इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य नित्य ब्रह्म यज्ञ अर्थात् ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता है। उसके घर चमकने लगते हैं और उनमें धन आदि अच्छी चीजों की प्राप्ति होती है।

संध्या, गायत्री आदि ब्रह्म यज्ञ हैं। इनको करना चाहिये।

दूसरा 'देव यज्ञ' है। इसमें वायु की शुद्धि के लिये अग्नि प्रज्वलित करके सुगन्धयुक्त, रोगनाशक और पुष्टि-वर्धक वस्तुयें जलाई जाती हैं :—

देवं वो देवयज्ययाग्निमीडीत मर्त्यः। समिद्धः शुक्र दीदिह्यृतस्य योनिमासदः ससस्य योनिमासदः।

(ऋग्वेद ५। २१। ४)

(मर्त्यः) मनुष्य को चाहिये कि वह (देवं वः अग्निम्) तुम्हारे अग्नि देव की, (देव यज्यया) देव यज्ञ रूपी कर्म द्वारा, (ईडीत) उपासना करे। (शुक्र) हे प्रकाशवान् अग्नि, (समिद्धः दीदिहि) समिधाओं द्वारा जल उठ, (ऋतस्य ससस्य) वैदिक कर्म का, (योनिम्) स्थान, (आसदः) बन जा।

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि श्रद्धा से हवन कुण्ड में अग्नि जलाकर उसमें आहुतियाँ देवें जिससे घर का वातावरण शुद्ध रहे।

और देखिये (यजुर्वेद ११ । ७५)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ।

(अहः अहः) प्रतिदिन, (अप्रयावं) प्रमादरहित होकर, (अश्वाय घासं इव)* घोड़े के लिये घास के समान, (अस्मै तिष्ठते) इस पूज्य अग्नि के लिये, (भरन्तः) हम आहुतियाँ देवें। (अग्ने) हे अग्नि, (रायस्पोषेण) धन धान्य से, (इषा) अन्न से, (सं मदन्तः) आनन्द भोगते हुये हम लोग, (ते प्रतिवेशाः) तेरे निकट होकर, (मा रिषाम) नाश को न प्राप्त होवें।

जैसे घोड़े को प्रतिदिन घास खिलाई जाती है तभी वह जीवन के कार्य में सहायक होता है। इसी प्रकार नित्य हवन करने से शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है।

तीसरा पितृ यज्ञ है, गृहस्थ के इस प्रकरण में 'पितृ' का अर्थ है पिता, माता, बाबा, दादी आदि। वृद्धावस्था में शारीरिक निर्बलता हो जाती है और मनुष्य धन कमाने के योग्य नहीं

*ऐसा ही मन्त्र अथर्ववेद में है :—

अहरहर्बलिमित् ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।

(अथर्ववेद १६ । ५५ । ६)

हे अग्नि, जैसे घोड़े का स्वामी घोड़े को नित्य घास देता है उसी प्रकार लोग प्रतिदिन तुझे हवि प्रदान करते है। यहाँ 'बलि' का अर्थ है घृत आदि पदार्थ जिनसे हवन किया जाता है।

रहता। गृहस्थ लोगों का कर्तव्य है कि वह माता पिता की सेवा करें। भोजन, कपड़ा और सत्कार यह तीन चीजें पितृ यज्ञ कहलाती हैं। पितृ यज्ञ के दो पक्ष हैं श्राद्ध और तर्पण। श्राद्ध और तर्पण दो काम नहीं हैं, काम एक ही है अर्थात् गृहस्थियों द्वारा पितृगण की सेवा-सुश्रुषा। इसको श्राद्ध इसलिये कहते हैं कि इसको श्रद्धा से करना चाहिये। इसको अपने ऊपर बोझ न समझना चाहिये। क्योंकि पितृ-ऋण के चुकाने का यही एक मात्र साधन है। इसी कर्म को तर्पण इसलिये कहते हैं कि पितृगण की तृप्ति इसका एक मात्र उद्देश्य है। उद्देश्य की दृष्टि से इसको तर्पण कहते हैं और साधन की दृष्टि से श्राद्ध। सन्तान श्राद्ध करती है और वह पितृगण के लिये तर्पण और तृप्ति-प्रद होता है, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी रुचि और अपनी अपनी आवश्यकता होती है, वृद्ध माता पिता के लिये भी यही बात है। उनकी रुचि और आवश्यकता को देखकर ही उनकी सेवा-सुश्रुषा करनी चाहिये। बोझ और बेगार समझकर नहीं। वेद में लिखा है *'श्रद्धया विन्दते वसु'*। मनुष्य जो काम श्रद्धा से करता है उसको वसु अर्थात् सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। (ऋग्वेद १० । १५१ । ४)

पितृ यज्ञ के विषय में नीचे लिखा मंत्र देखिये :—

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ।

(अथर्व वेद काण्ड १८, सूक्त १, मंत्र ४६)

(पितृभ्यः) पूर्वजों के लिये, (इदं नमः अस्तु) यह सत्कार होवे, (ये पूर्वासः ईयुः) जो पहले हैं, (ये अपरासः) और जो पिछले अर्थात् मां, बाप, बाबा, दादी, (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता) जो घरों में रहते हैं (ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु) या जो देश देशान्तर में भ्रमण करते हैं, गृहस्थ पुरुष को दोनों प्रकार के पितरों की सेवा करनी है। जो घरों में पुत्रों के साथ रहते हैं उनकी भी और जो वानप्रस्थ या सन्यासी होकर देश देशान्तर में विचरते हैं।

प्रश्न—पितर का अर्थ मरे 'पितर' है या जीवित ?

उत्तर—पितृ यज्ञ के प्रकरण में पितर का अर्थ जीवित पितर ही है। उन्हीं को यज्ञों में बुलाया जा सकता है। उन्हीं की तृप्ति के लिये श्रद्धा से सत्कार किया जा सकता है। उन्हीं से रक्षा की आशा की जा सकती है।

चौथा महा यज्ञ बलिवैश्वदेव या भूत यज्ञ है। 'बलि' का अर्थ है भोजन या भेंट। यह संस्कृत की (भृ) धातु से निकला है। भोजन से भरण पोषण होता है। अतः उसको 'बलि'* कहते

---

*लोक में यह प्रसिद्ध है कि बलि का अर्थ है किसी पशु को मार कर किसी देवता के नाम पर चढ़ा देना। जैसे बकरी की बलि काली माई को दी जाती है। 'बलि' शब्द का यह अर्थ ठीक नहीं। वेदों में 'बलि' का अर्थ भोजन या उपहार है। संभव है कि मांसाहारियों ने मांस को ही भोजन समझ कर शब्द बिगाड़ लिया। देखो :—

गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।

(ऋग्वेद १-७०-६)

हे देव आप (वनेषु गोषु) उत्तम पशुओं में (प्रशस्तिं धिषे) अच्छे

हैं। 'वैश्व देव' का अर्थ है सभी के लिये जो यज्ञ किया जाय। बलिवैश्वदेव यज्ञ का दूसरा नाम भूत यज्ञ भी है। 'भूत' का अर्थ है 'प्राणी'। यह यज्ञ सब प्राणियों के कल्याण के लिये किया जाता है। इस यज्ञ के करने वाले के हृदय में विशालता और उदारता का भाव विकसित होता है। वह समझने लगता है कि विश्व भर के प्राणियों से मेरा सम्बन्ध है। मूल में हम सब एक हैं। वह भी जीवात्मा है और मैं भी जीवात्मा हूँ। इसलिये मुझे अपनी कमाई में से कुछ न कुछ उनको देना चाहिये।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।

(ऋ १०-११७-३)

गुणों को धारण कराते हो। (विश्वे) सब लोग हमारे लिये (स्वर्णः बलिं भरन्त) उत्तम उपहार लाते हैं।

यहाँ बलि का अर्थ है "उपायन रूपंधनं" (देखो सायण) ग्रिफिथ और विलसन ने इसका अर्थ ट्रीब्यूट (tribute) किया है।

इसी अर्थ में अथर्व वेद के यह मंत्र हैं:—

तस्मै *बलिं* **राष्ट्रभृतो भरन्ति।** (अथर्व १० । ८ । १५)

राष्ट्र के लोग उस राष्ट्रपति को उपहार देते हैं।

इमा विशो अभिहरन्त ते *बलिम्*। (अथर्व १९ । ४५ । ४)

यह प्रजा के लोग तुझे उपहार देवें।

देखो १९ । ५५ । ६ भी।

(स यः भोजः) जो दानदाता, (गृहवे) दान के अधिकारी, (अन्नकामाय) भूखे, (चरते) घर में आये हुये, (कृशाय) कंगाल को (ददाति) दान देता है, (अस्मै) उस दानदाता के लिये, (यामहूतौ) यज्ञ में, (अरं भवति) भरपूर कामनाओं की प्राप्ति होती है, (उत अपरीषु सखायं कृणुते) और अन्यत्र भी लोग उसके मित्र बन जाते हैं, दानी का कोई शत्रु नहीं होता।

पाँचवाँ महायज्ञ *अतिथि यज्ञ* है। अर्थात् घर में जो कोई भद्र पुरुष, सन्यासी, महात्मा अचानक आ जायँ तो उनका सत्कार करना चाहिये। ऊपर के मन्त्रों में अतिथियों के सत्कार का महत्व बताया है।

अथर्व वेद का नीचे का मन्त्र अतिथि-यज्ञ पर बड़ा बल देता हैं :—

(१) यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते।

(अथर्व वेद काण्ड ९, सूक्त ६ (१), मन्त्र ३)

जो घर का स्वामी अतिथियों का सत्कार करता है वह देव यज्ञ करता है।

(२) इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।

(अथर्व ९-६ (३)-१)

जो पुरुष अतिथि को खिलाये बिना उसके पहले भोजन कर लेता है वह अपने घर की भलाई और समृद्धि को खा जाता है

अर्थात् नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि अतिथि भूखा चला जाय तो गृहस्थ को पाप लगता है और उसके घर का नाश हो जाता है।

वेदों में इन पाँच महायज्ञों का गृहस्थियों के लिये विधान है। मनुष्य जीवन के ये पाँच महा कर्तव्य हैं। महायज्ञ का अर्थ यह नहीं है कि बहुत बड़े-बड़े लाखों रुपये लगाकर यज्ञ किये जायँ। एक साधारण स्थिति का गृहस्थी भी यह यज्ञ अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है। यदि समाज के सभी व्यक्ति इन यज्ञों को करने लगें तो मनुष्य समाज में सुख और शान्ति का संचार हो।

जो मनुष्य ब्रह्मयज्ञ अर्थात् नित्य कुछ देर तक ईश्वर की उपासना करता है उसका आत्मा प्रबल हो जाता है। उसे ईश्वर की शक्ति पर विश्वास होता है। वह आपदाओं से भयभीत नहीं होता। न निराश होता है। उसके मन में पाप नहीं आता।

जो पुरुष देवयज्ञ अर्थात् छोटा सा ही हवन करता है वह वायु को शुद्ध करता है। ग्रामों और नगरों के लाखों पुरुष यदि छोटा-छोटा हवन करें तो वातावरण शुद्ध रहने से रोगों में कमी होगी। हर मनुष्य थोड़ी-थोड़ी सांस लेकर नगर भर की वायु को विषैला बना देता है। यदि हर मनुष्य थोड़ा भी हवन करने लगे तो लाखों घरों से निकला हुआ सुगन्ध वायु को शुद्ध करेगा।

जो लोग अति वृद्ध हो गये हैं जिन्होंने अपनी युवा अवस्था

में समाज की सेवा की है, उनके अनुभवों से अब भी समाज को लाभ पहुँच सकता है। वह अपनी रोटी नहीं कमा सकते। ऐसे पुरुषों की सहायता और सेवा करना गृहस्थों का काम है। यही पितृ यज्ञ है। हर मनुष्य अपने जीवन की उन्नति के लिये अपने पुरखों का ऋणी है। उसे चाहिये कि इस ऋण को चुकावें। पितृ यज्ञ पितृ-ऋण चुकाने का साधन है। जो गृहस्थ अपने ऋणों को नहीं चुकाता वह सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। जैसे माता पिता का अपने ऊपर ऋण है वैसा ही अन्य प्राणियों और साधु सन्तों का भी है। इसी लिये बलि वैश्व-देव यज्ञ और अतिथि यज्ञ पर बल दिया गया है।

ऋण चुकाने के विषय में ऋग्वेद में एक बहुत अच्छा मन्त्र है:—

पर ऋणा सावीरध मत् कृतानि,
माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास,
आनो जीवान् वरुण तासु शाधि।

(ऋग्वेद २। २८। ९)

(वरुण) हे परमात्मन्, (ऋणाः) मेरे ऊपर जो तीन ऋण हैं अर्थात् पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण, (परा-सावीः) उनको चुका देने की मुझे शक्ति दीजिये, (अध मत् कृतानि) और आजकल जो मैं ऋण लूँ उनको भी चुका दूँ। (राजन्) हे ईश्वर, (अहं अन्यकृतेन मा भोजम्) मैं दूसरे

की कमाई न खाऊं। (भूयसी उषासः) बहुत सी उषायें, (अव्युष्टा इत् नु) वस्तुतः उषायें नहीं प्रतीत होतीं, (तासु) उन उषा बेलाओं में, (नो जीवान्) हम जीवों को, (आशाधि) भली प्रकार अनुशासित कीजिये।

तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल जब मनुष्य उठता है तो उषा काल होता है अर्थात् अँधेरे के पश्चात् प्रकाश होता है। और उस प्रकाश के समय पशु-पक्षी तथा मनुष्य सभी प्रसन्न-चित्त होते हैं। परन्तु जिस मनुष्य के सिर पर कर्जे का भार है उसे प्रसन्नता के स्थान में क्लेश होता है कि सवेरा होते ही लोग अपना अपना कर्जा माँगेंगे। इससे 'उषा' 'अव्युष्टा' अर्थात् दुःखदायक हो जाती है। इस मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि प्रभो! आप ऐसी प्रेरणा करें कि मेरे ऊपर किसी का ऋण न रहे। मैं सब ऋणों से मुक्त हो जाऊँ। मैं अपनी कमाई का खाऊँ। दूसरे की कमाई पर निर्भर न रहूँ। जो लोग स्वयं कमाकर नहीं खाते वे खाऊ (अंगरेजी में लोफर Loafer) कहलाते हैं। इनसे मनुष्य समाज को बड़ी हानि होती है। अतः हर मनुष्य को चाहिये कि अपने पसीने की कमाई खावें। जो लोग अपने माता-पिता की कमाई खाया करते हैं वह भी पाप करते हैं, क्योंकि माता पिता की कमाई तो उसी समय तक के लिये है जब बालक कमाने के योग्य नहीं है। इसी प्रकार सास-ससुर की कमाई खाने वाले मनुष्यों को तो महा निन्दनीय समझना चाहिये।

आठवाँ अध्याय

राष्ट्रीयता

विश्व बन्धुत्व तथा प्राणी मात्र से प्रेम पूर्वक व्यवहार की शिक्षा वेदों में दी गई है। परन्तु प्रबन्ध को दृष्टि में रखते हुये राष्ट्रीयता का उपदेश दिया गया है।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।

(यजुर्वेद ९। २३)

(पुरोहिताः = पुरः हिताः*) सब के आगे रक्खे हुये अर्थात् नेता, (वयं) हम लोग, (राष्ट्रे) राष्ट्र में, (जागृयाम) जागते रहें।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि राष्ट्र की उन्नति में सावधान रहे। राष्ट्र का संचालन सुन्दर रीति से करे और किसी प्रकार शिथिलता न आने दे। अतः राष्ट्र के प्रबन्ध पर सब का ध्यान जाना चाहिये, और उनको चाहिये कि एक बुद्धिमान् शक्तिशाली पुरुष को अपना प्रमुख चुन लें।

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं। महते क्षत्राय। महते ज्यैष्ठ्याय। महते जानराज्याय। इन्द्रस्येन्द्रियाय।

*पुरोहित = पुरः + हित। 'हित' 'धा' धातु का 'क्त' प्रत्ययान्त है। आगे रक्खा हुआ (foremost placed), अर्थात् अगुआ या नेता।

इममुष्य पुत्रम्। अमुष्यै पुत्रम्। अस्यै। विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।

(यजुर्वेद ९-४०)

जिसको प्रमुख चुनना हो उसके चुनने वालों के लिये यह उपदेश है।

(देवाः) हे विद्वान् लोगों, (इमं) इस श्रेष्ठ पुरुष को, (असपत्नं सुवध्वम्) शत्रु-रहित करो। अर्थात् तुम में से कोई इसके साथ शत्रुता का व्यवहार न करे, (महते क्षत्राय) जिससे वह अधिक से अधिक रक्षा कर सके, (महते ज्यैष्ठ्याय) और सब लोग गौरवशाली हों, (महते जानराज्याय) यह राज एक का न होकर सभी का शामिल हो। जनता का राज्य हो। एक पुरुष मनमानी न करने पावे, (इन्द्रस्य इन्द्रियाय) राज-शक्ति की समृद्धि हो, (इमं अमुष्य पुत्रं, अमुष्यै पुत्रम् सुवध्वम्) अमुक पिता और अमुक माता के इस योग्य पुरुष को तुम चुनो, (विशः) हे लोगो, (एषः वः अमी राजा) यह तुम्हारा राजा है, (सोमः अस्माकं ब्राह्मणानां राजा) यह मृदु स्वभाव वाला पुरुष हम ब्राह्मणों का राजा है।

इस मन्त्र में इतनी बातें दिखाई गई हैं :—

(१) एक पुरुष का मन-माना राज नहीं होना चाहिये।

(२) ब्राह्मणों अर्थात् समाज के विद्वान्, पक्षपात शून्य, निःस्वार्थी लोगों को चाहिये कि ऐसे को राजा चुनें जो सौम्य स्वभाव का हो। और प्रजा के पालन में कठोरता का व्यवहार

न करे ।

(३) राज्य प्रबन्ध का भार जनता के ऊपर हो। जनराज हो। इसी के लिये 'जान-राज्याय' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(४) 'राजा' शब्द 'राजृ दीप्तौ' धातु से निकला है। राजा का अर्थ है प्रकाशक या प्रकाश का करने वाला। जैसे सूर्य जब चमकता है तो सभी पदार्थों को प्रकाशित कर देता है और हर पदार्थ के गुण देदीप्यमान हो जाते हैं इसी प्रकार अच्छे राजा के राज में सभी पुरुष और स्त्रियों को गुणी होना चाहिये।

राजा को चाहिये कि प्रजाजनों के साथ दुर्व्यवहार न करें। ऋग्वेद में इस विषय का बहुत अच्छा मन्त्र है :—

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः॥

(ऋग्वेद १-१७०-२)

(*इन्द्र) हे राजा, (नः किं जिघांससि) हमको क्यों खा डालना चाहता है, (मरुतः) प्रजा के लोग, (तव भ्रातरः) तेरे भाई हैं, "त्वया भोग प्रदानेन भरणीयाः" (सायण भाष्य)। अर्थात् तेरा कर्त्तव्य है कि तू इनका पालन पोषण करे, (तेभिः

* पौराणिक देव माला में इन्द्र को स्वर्ग का राजा और मरुतों की प्रजा कहा है। वस्तुतः वेद स्वर्ग के देवताओं के लिये नहीं हैं। वे तो इस लोक के मनुष्यों के लिये ही हैं। अतः इन्द्र और मरुतों का यह संवाद राष्ट्र के राष्ट्रपति और प्रजाजनों के लिये ही समझना चाहिये।

साधुया कल्पस्व) इनके साथ अच्छा व्यवहार कर, (नः समरणे मा वधीः) जैसे युद्ध में वैरी को मारते हैं इस प्रकार हमारे साथ व्यवहार मत कर।

प्रायः यह देखा गया है कि जिसको लोग राजा चुनते हैं वह शक्ति प्राप्त करके निरंकुश हो जाता है। ऐसों के लिये ही वेद की यह चेतावनी है।

मातृभूमि की सेवा हर नारी को करना चाहिये क्योंकि इसी से हमारा पालन पोषण होता है। मातृभूमि की प्रसंशा में अथर्व वेद के बारहवें काण्ड में एक भूमि-सूक्त है जिसका कुछ अंश यहाँ देते हैं :—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्। सा नो मधु प्रियं दुहमथो उक्षतु वर्चसा।

(अथर्व १२-१-७)

(यां विश्वदानीं भूमिं पृथिवीं) जिस सर्वप्रकार के सुखों को देने वाली मातृभूमि या पृथिवी माता की, (अस्वप्नाः देवाः अप्रमादं रक्षन्ति) जागते हुये सावधान विद्वान् बिना प्रमाद के रक्षा करते हैं, (सा) वह पृथ्वीमाता, (नः) हमको, (प्रियंमधु दुहं) प्रिय मीठे दूध को, (अथः वर्चसा) और तेज से, (उक्षतु) सींचती हैं।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्र का निर्माण बड़ी कठिनाई से होता है। आलसी और प्रमादी जन शीघ्र ही दूसरों के दास हो जाते हैं।

सत्यं बृहद् व्रतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

(अथर्व वेद १२ । १ । १)

(पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी अर्थात् राष्ट्र की रक्षा इतनी चीजों से होती है, (सत्यं बृहत्) बड़े सत्य से । अर्थात् जिस देश के मनुष्य असत्यवादी होते हैं वह राज ठीक नहीं रह सकता, (उग्रं व्रतम्) कड़ा व्रत । अर्थात् देश के लोगों को कठिन व्रत का पालन करना चाहिये, (दीक्षा) शुभ कामों की योग्यता, (तपः) कठिनाई सहन करने की शक्ति, विलासी जन शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं, (ब्रह्म) विद्या, (यज्ञः) श्रेष्ठ कर्म, (सा पृथिवी) अर्थात् ऐसा देश जिसमें सत्यवान्, व्रतधारी आदि लोग रहते हैं, (नः भूतस्य भव्यस्य पत्नी) हमारे भूत और भविष्यत् का पालक है, (उरु लोकं नः कृणोतु) वह हमारे परलोक को भी साध सकेगा ।

तात्पर्य यह है कि देशवासियों को सत्यनिष्ठ, व्रतधारी, अप्रमादी और तपस्वी होना चाहिये । इससे राज की उन्नति होगी । धन, धान्य तथा शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति होगी और उनका लोक सुधरेगा तो परलोक भी सुधरेगा । जो इस जन्म में स्वार्थी, विलासी, अज्ञानी अथवा प्रमादी है वह दूसरे जन्म में भी दास ही उत्पन्न होगा और उसको मोक्ष की प्राप्ति न होगी ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्य-वर्तयन् । गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥

(अथर्ववेद १२ । १ । ५)

(यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) जिस राष्ट्र को हमारे पूर्वजों ने पिछले कालों में बनाया है। (यस्यां देवाः असुरान् अभ्यवर्तयन्) जिस राष्ट्र में विद्वानों ने दुष्ट लोगों को पराजित किया है, ऐसा हमारा राष्ट्र। (गवां, अश्वानां, वयसः च विष्ठा) गायों, घोड़ों, पक्षियों आदि का "विष्ठा" (वि + स्था) विशेष निवास स्थान है। (पृथिवी नः भगं वर्चः दधातु) ऐसी मातृ-भूमि अथवा ऐसा राष्ट्र हमको तेजस्वी बनावे।

राष्ट्र सुगमता से नहीं बनता। राष्ट्र निर्माण के लिये देश-वासियों को त्याग और बलिदान देने होते हैं। भारत का महा-भारत से इधर का इतिहास देखिये, दूसरे देशों का इतिहास पढ़िये। सभी से वेद मन्त्र में दी हुई इस सत्यता की साक्षी मिलेगी।

नवाँ अध्याय

राष्ट्र गीत

एक आदर्श राष्ट्र में क्या-क्या वस्तुएँ होनी चाहिये इसका उत्तम वर्णन यजुर्वेद अध्याय २२ के २२ वें मन्त्र में किया गया

है। इसको भूमण्डल के सभी राष्ट्र गीत मान कर गा सकते हैं। क्योंकि इसमें दी हुई बातें सब युगों और सब देशों में लाभकारी सिद्ध होंगी। वह गीत यह है :—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः। पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः। सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।

(यजु २२ २२)

(१) हे ईश्वर हमारा नेता ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी अर्थात् उत्कृष्ट आत्मज्ञान का ज्ञाता हो। वह न स्वार्थी हो, न लोभी न लौकिक निकृष्ट कामनाओं में फँसा हुआ। जिससे वह जनता के समक्ष उच्च आदर्श रख सके।

(२) राष्ट्र में क्षत्रिय लोग शूरवीर, हथियार बन्द तन्दुरुस्त और शत्रु को परास्त करने वाले महारथी होवें। जिससे कोई हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करने का इरादा भी न कर सके।

(३) गायें दूध देने वाली हों।

(४) बैल बोझा ढोने में शक्तिशाली हों।

(५) घोड़े तेज हों।

(६) स्त्रियाँ स्वस्थ और रूपवती हों। 'पुर' अर्थात् शरीर को

भली भाँति धारण कर सकें। कोमल, निर्बल और रोगी न हो। जिससे सन्तान हृष्ट-पुष्ट हों।

(७) रथेष्ठा (रथे + स्था) सैनिक लोग विजय की इच्छा रखने वाले हों। वह जब युद्ध में जावें तो विजय की कामना करते हुये, निःस्वार्थ भाव से लड़ने वाले और विजयी होवें।

(८) (अस्य यजमानस्य युवा वीरः सभेयो जायतां) इस यजमान के युवा पुत्र सभाओं में भाग लेने के योग्य, गुणवान् हों। कोई यह न कह सके कि सन्तान अयोग्य है।

(९) (निकामे निकामे नः पर्जन्यः वर्षतु) जब जब हमको वर्षा की आवश्यकता हो, ठीक ठीक ऋतु पर हो। जिससे अतिवृष्टि और अनावृष्टि का दुःख न हो।

(१०) (फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां) हमारी खेती फलवती अर्थात् बहुतायत से अन्न उपजाने वाली हो।

(११) (योगक्षेमो नः कल्पताम्) जो आवश्यक वस्तु न हो उसका प्राप्त करना 'योग' कहलाता है। और जो प्राप्त हो जाय उसकी रक्षा 'क्षेम' कहलाता है। अर्थात् हे ईश्वर हमारे राष्ट्र में किसी चीज की कमी न रहे, सब आवश्यक पदार्थों का उत्पादन भी ठीक हो और उत्पन्न हुई वस्तुओं से लोगों को पूरा पूरा लाभ भी हो। हर वस्तु का मितव्यय हो, अतिव्यय न हो।

इन ११ वस्तुओं की हर राष्ट्र को आवश्यकता होती है। यदि राष्ट्र की जनता इस गीत को ध्यान में रक्खे और इन पदार्थों को जुटाने का यत्न करे तो अवश्य ही जनता का कल्याण हो सकता है।

दसवाँ अध्याय

समाज संगठन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह अकेला रहना पसन्द नहीं करता। फिर भी सब मनुष्य एक से नहीं होते। हर एक के गुण, हर एक की प्रवृत्तियाँ, हर एक की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इतनी भिन्नता होते हुये प्रश्न यह है कि सामाजिक संगठन कैसे हो? वेदों में वर्गीकरण का आधार गुण कर्म और स्वभाव माना गया है। यजुर्वेद अध्याय ३१ का ग्यारहवाँ मन्त्र एक प्रसिद्ध मन्त्र है, प्रायः सभी वेद पढ़ने वाले इस मन्त्र को जानते हैं। परन्तु इसका आशय समझने में प्रायः बहुत भ्रांति हुई हैं। मन्त्र यह है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

(यजु० ३१ । ११)

अर्थ :—इस समाजरूपी शरीर का मुँह ब्राह्मण है, बाहू क्षत्रिय हैं, जंघायें वैश्य हैं और पैर शूद्र हैं।

संगठित समाज के लिये शरीर से अच्छी कोई उपमा नहीं है। शरीर में तीन बातें पाई जाती हैं :—

(१) सब अंग भिन्न भिन्न हैं। आँख अलग, कान अलग, पेट अलग, हाथ अलग, पैर अलग। इनके रूप भिन्न, गुण भिन्न, कार्य भिन्न।

(२) यह सब अंग एक दूसरे के सहयोगी हैं, भिन्न होते हुये भी परस्पर बँधे हैं, संगठित हैं, न अलग हो सकते हैं, न विरोध कर सकते हैं। कोमल जीभ और कड़े दाँत दोनों साथ रहते और एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं।

(३) इन सब के सहयोग से ही शरीर की पुष्टि होती है। सहयोग जीवन का चिह्न भी है और हेतु भी। असहयोग मृत्यु का कारण भी है और चिह्न भी। स्वस्थ शरीर वह है जिसके अंग भिन्न होते हुये भी सहयोगी हैं। असहयोग का आरम्भ ही रोग का सूचक है और मृत्यु का वाहक है।

इस अत्यन्त उपयुक्त उपमा-पूर्ण मन्त्र को समझने में लोगों ने यह भूल की कि पहली बात पर तो दृष्टि डाली और दूसरी और तीसरी बात को भुला दिया। इसलिये इस आधार पर हिन्दुओं में जो वर्गीकरण हुआ उसने भिन्नता और कलह को उत्पन्न किया। संगठन को तोड़ दिया, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में लड़ाइयाँ हुईं। शूद्रों और वैश्यों में कलह हुआ, ब्राह्मणों की उपजातियों में स्पर्धा और ईर्षा हुई। हिन्दू जाति हजारों ऐसे वर्गों में विभक्त हो गई जिन्होंने समस्त समाज को प्रनष्ट कर दिया। यह उपमा उपमेय के लक्षण को न समझने के कारण था। वस्तुतः वेद मन्त्र में जो नियम दिया गया है वह विश्व-व्यापी है। अर्थात् समाज के चार मोटे मोटे भाग होने चाहियेः—

(१ ज्ञान की वृद्धि करने वाले ब्राह्मण जो मुख के समान है।

(२) बलवान क्षत्रिय बाहू के समान।

(३) उद्योगी वैश्य जाँघों के समान।

(४) अन्य साधारण श्रमजीवी शूद्र पैर के समान।

इसको वैदिक भाषा में चार वर्ण कहते हैं। यहाँ वर्ण का अर्थ रङ्ग नहीं है अपितु 'वृ वरणे' धातु से वर्ण वह कर्त्तव्य है जो मनुष्य समाज सेवा के लिये चुन लेता है। यह वर्ण किसी पर बलात् थोपा नहीं जाता। मनुष्य इसको स्वयं चुनता है। चुनने में रुचि और शक्ति दोनों ही देखनी पड़ती है, जिस मनुष्य का मस्तिष्क अच्छा है और जिसे ज्ञान-वृद्धि में रुचि है वह अनेक प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान तथा आविष्कार करके समाज की समृद्धि में भाग लेगा। ऐसा मनुष्य ब्राह्मण कहलायेगा। जो शरीर में बलिष्ठ है और शूरवीर है वह समाज की गुण्डों से रक्षा करेगा, वह क्षत्रिय हैं। जो धन धान्य उत्पन्न करेगा और कला कौशल की उन्नति करेगा वह वैश्य है। जो सेवा ही कर सकता है और तीनों वर्णों को उनके काम में सहायता दे सकता है वह शूद्र है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पैतृक जन्म पर आधारित नहीं है। गुण कर्म और स्वभाव के अनुकूल इनका वर्गीकरण हुआ है, भेद भाव के लिये नहीं। अपितु सहयोग के लिये। यह एक दूसरे के पूरक हैं।

समाज के यह चार वर्ग बड़े बड़े हैं। परन्तु जब समाज बड़ा होता है तो हर वर्ग में विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ती है। एक छोटे से गाँव में एक ही दुकान होती है। उसी पर नमक मिर्च भी बिकती है और कपड़ा भी। और छोटी छोटी

दवायें भी। परन्तु बड़े शहरों में तो हलवाइयों की दुकानें कई तरह की होती है। पूड़ी की अलग, मिठाई की अलग। कपड़ों की दुकानें भी अलग होती हैं। इसी प्रकार जब समाज में विशालता आती है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी बीसियों वर्गों में विभक्त हो जाते हैं, परन्तु सौन्दर्य यह है कि वे सब कितने ही भिन्न क्यों न हों परस्पर पूरक होते हैं घातक नहीं। वेद मन्त्र में शरीर की उपमा देकर इसी पूरकत्व पर बल दिया है। इसका आधार जन्म आदि गौण नियमों पर नहीं होना चाहिये। स्वाभाविक प्रवृत्तियों और रुचियों पर ही इसका आश्रय होना चाहिये।

सुसंगठित समाज के लिये कई चीजों की आवश्यकता होती है। जैसे धन, कृषि, उद्योग, कला कौशल, व्यापार, यात्रा के साधन, सेना, विद्याध्ययन आदि। वेदों में इन सब विषयों पर शिक्षायें विद्यमान हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

धन

प्रश्न—वेद में धन के सम्बन्ध में क्या शिक्षा है ?

उत्तर—ऋग्वेद के आरम्भ में ही एक मंत्र धन के सम्बन्ध में है क्योंकि बिना धन के तो जीवन नहीं हो सकता।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसंवीरवत्तमम् । (ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १, मंत्र ३)

(अग्निना) ईश्वर के उपदेशों के द्वारा, (रयिम्) धन को, (अश्नवत्) प्राप्त करे, (दिवे दिवे) हर रोज। वह धन कैसा हो ? (पोषम्) पुष्टि देने वाला, (यशसम्) कीर्ति देने वाला, (वीरवत्तमम्) शक्ति बढ़ाने वाला।

तात्पर्य यह है कि बेईमानी से धन मत कमाओ। ईश्वर की आज्ञा में रह कर धर्म से धन कमाओ। ऐसा धन न हो कि तुम्हारा पालन पोषण न हो सके। ऐसा भी धन न हो कि लोग तुम को गालियाँ दें। धन से तुम्हारी कीर्ति बढ़नी चाहिये। धर्म से कमाओ और धर्म से खर्च करो। वेद में लिखा है :—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहानैमि। सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्।
(अथर्व वेद ७ ६०·१)

एक गृहस्थी अपने परिवार वालों से कहता है :—

(सुमना वन्द मानो रमध्वं) आप अपने मनों को ठीक रखते हुये और एक दूसरे की वन्दना करते हुये आनन्द कीजिये, (मा विभीत मत्) मुझसे मत डरिये। मैं स्वार्थी बनकर आपको कष्ट न दूँगा क्योंकि मैं, (ऊर्जं बिभ्रत) तेज को धारण करता हूँ, (वसुवनिः) धन कमाता हूँ, (सुमेधा) बुद्धि वाला हूँ, मेरी नीयत खराब नहीं है, (अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा गृहान् ऐमि)

कोमल मित्र की आँख से मैं घर में आता हूँ। अर्थात् मैं प्रेम से रहूँगा। धन कमाऊँगा और आप सब को सुख दूँगा। जो दुष्ट और स्वार्थी हैं वे जो कमाते हैं अपने ही ऊपर खर्च कर देते हैं।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥

(अथर्व ७ ६०-२)

ये घर सुखी और शक्ति वाले तथा दूध वाले हो। भरपूर हों। उत्तम वस्तुयें उनमें हो। और उदार हृदय लोग हमारा स्वागत करें। जो लोग परिश्रमी उदार और प्रेम युक्त होते हैं। उन्हीं के घर धन धान्य, दूध दही से भरपूर होते हैं, और उन्हीं को सुख होता है। कृपण, कंजूस और आलसी कभी फूलते फलते नहीं।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥

(अथर्व ७-६०-४)

(भूरिधनाः) बहुत धन कमाने वाले, (सखायः) साथ-साथ ईश्वर की स्तुति करने वाले, (स्वादुसंमुदः) जीवन का आनन्द लेने वाले (अक्षुध्या) भूखा न मरने वाले (अतृष्या) प्यास से न तड़पने वाले, (गृहा स्त) घरवालो तुम रहो, (मा अस्मद् विभीतन) हमसे डरो मत।

यदि धनी आदमी धर्मात्मा या दानी हो तो घर के, मुहल्ले के, नगर के और देश के लोग उसका मान करते हैं।

पति जब विवाह करता है तो प्रतिज्ञा करता है कि मैं पत्नी का पालन करूँगा। जो पति यह आशा रहता है कि पत्नी भी मिले और वह विवाह के साथ बहुत सा धन धान्य, कपड़े, आभूषण, गाड़ी मोटर, बासन भाँडे भी लावे उनके विरुद्ध अथर्व वेद में एक मार्मिक भर्त्सना है :—

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।

पतिर्यद् बध्वोः वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते।

(अथर्व वेद १४-१-२७)

जो पति अपनी वधू के वस्त्रों से अपने अङ्गों को ढकता है अर्थात् वधू के द्वारा लाये हुये सामान के उपभोग की इच्छा करता है उसका शरीर अश्लील या दूषित हो जाता है। अतः दहेज लेने या उसको चाहने की प्रथा को वेद ने पाप बताया है।

समस्त शुद्धियों मे अर्थ-शुचि (ईमानदारी) सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक है। ऋग्वेद का यह मन्त्र देखिये :—

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः ऋतेन सत्यमृतसाप आयन् शुचिजन्मानः शुचयः पावकाः।

(ऋग्वेद मंडल ७, सूक्त ५६, मंत्र १२)

(मरुतः) हे संसार के लोगों (वः शुचीनां) तुम शुद्ध लोगों

के (शुची हव्या) सामान 'चीजें' शुद्ध हों, (शुचिभ्यः शुचिं अध्वरं हिनोमि) मेरी प्रेरणा है कि तुम शुद्ध धर्म से कमाये हुये शुद्ध पदार्थों के साथ शुद्ध यज्ञ करो। शुद्ध सत्य और शुद्ध वैदिक नियमों के द्वारा तुम्हारे जीवन शुद्ध और दूसरों को शुद्ध करने वाले बनें। रिश्वत लेना, जुआ खेलना, बेईमानी करना, किसी का माल छीन लेना यह सब अधर्म की कमाई है और यह घरों और देशों को नष्ट कर देती है।

बारहवाँ अध्याय

पशुधन

धनों में सब से उत्कृष्ट '*पशुधन*' है। अथर्ववेद के सत्रहवें काण्ड में इस प्रार्थना को कई बार दुहराया गया है :—

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्।

हे परमात्मन् (त्वं) आप, (नः) हमको, (विश्वरूपैः पशुभिः) नाना प्रकार के पशुओं से प्रसन्न कीजिये, (परमे व्योमन्) इस विशाल जगत् में (मा = माम्) मुझ को, (सुधायां) अमृत में, (धेहि) रखिये, अर्थात् अनेक पशुओं को देकर मुझको सुखी बनाइये।

पशुओं की उत्पत्ति का यह वर्णन है :—

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज् जाता अजावयः॥
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥
(अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ६, मंत्र १२, १४)

उसी ईश्वर ने घोड़ों को बनाया और उन पशुओं को जो दो दांत वाले हैं। गायों, बकरियों और भेड़ों को बनाया, उसी ईश्वर ने वायु में विचरने वाले, वन में फिरने वाले, तथा ग्राम में रहने वाले पशुओं को बनाया।

मनुष्यों के साथ पशुओं का साथ है, पशुओं में भी वही जीवात्मा है जो मनुष्यों में। इस प्रकार जीव की दृष्टि से सब प्राणी एक हैं। इसीलिये कहा है कि "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" (यजु ३६-१८) अर्थात् हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। मनुष्यों के घरों में जो घोड़े, गधे, गाय, बैल, भेड़, बकरी, कुत्ते पाले जाते हैं वह केवल मनुष्य की सेवा ही नहीं करते अपितु अपनी संस्कृति का स्तर भी ऊंचा करते हैं। युद्ध के घोड़े स्वामी भक्त बन जाते हैं और स्वामी की रक्षा के के लिये अपने प्राण दे देते हैं। गड़रियों के कुत्तों की बुद्धि इतनी तीव्र हो जाती है कि वह भेड़ों की रखवाली कर सकते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में किम्बर्ले (Kimberley) नामक एक नगर है जहाँ खानों में से हीरे निकाले जाते हैं। हीरों की रखवाली के लिये कुत्तों को शिक्षा दी जाती है। चौकीदार को चोर प्रलोभन

दे सकते हैं परन्तु कुत्तों को नहीं। सारांश यह है कि मनुष्य और पशुओं का संसर्ग दोनों के लिये लाभकर है। मनुष्य को अपने काम काज में सहायता मिलती है और पशुओं की आन्तरिक उन्नति का विकास होता है। इसीलिये यजुर्वेद से पहले मन्त्र में प्रार्थना है—('यजमानस्य पशून् पाहि') यजमान के पशुओं की की रक्षा कर। क्योंकि पशु धन है। और श्रेष्ठ धन है। बिना पशुओं के आप यन्त्रों (कलों) से काम चला सकते हैं। परन्तु जो सभ्यता जड़ यन्त्रों पर ही निर्भर रहती है और पशुओं की उपेक्षा करती है, वह कितनी ही चमकीली और सुविधा जनक क्यों न हो उसमें सब से बड़ा दोष यह है कि वह पशुओं के विकास का अवसर नहीं देती। इसलिये पशुधन की उपेक्षा ठीक नहीं।

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥

(सामवेद उत्तरार्चिक १ । १ । ३)

हे परमात्मन् (नः पवस्व) हमको ऐसी प्रेरणा कीजिये कि (गवे शम्) हम गायों के प्रति शुभकारी हों, (शं जनाय) अपने नौकर चाकरों के प्रति शुभकारी हों, (शं अर्वते) घोड़ों के प्रति शुभकारी हों, (शं ओषधीभ्यः) वृक्षों, लताओं, पौधों को भी उन्नति करें।

इस मन्त्र में गाय और घोड़े का विशेष उल्लेख है। क्योंकि यह सबसे अधिक उपकारी हैं, गाय का नाम धेनु है अर्थात्

वह पीने के लिये दूध देती है। इस यौगिक अर्थ में वे सब पशु धेनु हैं जिनका दूध पिया जाता है। भारत में गाय, भैंस और बकरी धेनु है। अरब में ऊंटनी भी धेनु है, क्योंकि अरब वाले ऊंटनी का भी दूध पीते हैं। इसी प्रकार 'अर्वत्' नाम है घोड़े का। घोड़े को 'वाजी' भी कहते हैं, जहाँ गधे की सवारी करते हैं वहाँ 'गधा' भी वाजी है। अनड्वान् (अनस् + वह) नाम बैल का है क्योंकि वह अनस् अर्थात् गाड़ी को खींचता है। वे सब पशु जो गाड़ियों को खींचते हैं बैल, भैंसे, ऊँट, पहाड़ी बकरे यह सब 'अनड्वान्' कहलाने के योग्य हैं। इन की रक्षा करना उसी प्रकार मनुष्य का कर्त्तव्य है जिस प्रकार अपने नौकर चाकरों की।

इन सब पशुओं में गाय को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। 'गो' शब्द के संस्कृत भाषा में कई अर्थ हैं, नीचे का श्लोक पाठकों के मनोविनोद के लिये देते हैं :—

क्षीरं चान्नं तथा ज्ञानं, लोकेभ्यो दीयते यया।
गोमाता सा सदा सेव्या, धेनुः पृथ्वी सरस्वती॥

धेनु हमारी माता है क्योंकि वह दूध पिलाती है, पृथ्वी माता है क्योंकि वह अन्न देती है। सरस्वती (वाणी) माता है है क्योंकि वह ज्ञान देती है, धेनु, पृथ्वी और वाणी तीनों के लिये संस्कृत में 'गो' शब्द आता है। अतः 'गोमाता' तो सदा ही सेव्या अर्थात् सत्कार के योग्य है।

इसी आशय का एक वेद मन्त्र भी है :—

इन्द्रा युवं वरुणा भूतमस्या धियः प्रेतारा वृषभेव धेनोः ।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥

(ऋग्वेद ४-४१-५)

हे इन्द्र और वरुण तुम दोनों, हमारी इस प्रार्थना के प्रेरक हूजिये, जैसे बैल गाय के। यह प्रार्थना हमको इस प्रकार फल देवे जैसे घास खाने वाली बड़ी गाय सहस्रधार दूध से हमको तृप्त करती है।

इहैव गाव एतने हो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्रजायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ।

(अथर्व वेद ३-१४-४)

(गावः) हे गौओ, (इह एव एतन) मेरे घर में आओ, (शका इव पुष्यत) भोजन खा-खा कर पुष्ट होओ, (इह एव उत प्रजायध्वं) यही बच्चे उत्पन्न करो, (मयि वः संज्ञानं अस्तु) मुझ में तुम्हारा प्रेम होवे।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
विभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥

(अथर्व वेद ३।१४।३)

(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में, (अबिभ्युषीः) बिना किसी भय के, (संजग्मानाः) साथ-साथ प्रेम से रहो, (करीषिणीः) और यहीं गोबर करो, (सोम्यं मधु विभ्रतीः) सोम के समान गुणकारी मीठा दूध दो, (अनमीवा उपेतन) और तुमको कोई रोग न हो।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम।

(अथर्व ३।१४।६)

(गावः) हे गौओ, (मया गोपतिना सचध्वम्) मुझ गोपति के साथ रहिये, (अयं गोष्ठः इह) यहाँ यह गोशाला, (वः पोषयिष्णुः) तुम्हारी पोषण करने वाली हो, (रायस्पोषेण-बहुला भवन्तीः) धन धान्य से पुष्ट होकर तुम बढ़ो, (जीवाः) हम जीव लोग, (जीवन्तीः वः उपसदेम) जीती हुई तुम गौओं की सेवा करें।

इन मन्त्रों मे गोरक्षा और गोरक्षा से धन धान्य की संवृद्धि का कथन है, 'जीवन्तीः वः' इन शब्दों से स्पष्ट है कि गायों को यज्ञ में मारने या मांस खाने का संकेत तक नहीं है। वैदिक संस्कृति में किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाने का प्रसङ्ग नहीं है। इसका मूलमन्त्र है सभी का कल्याण और सभी का विकास। मनुष्य को यह अधिकार नहीं कि अपने स्वार्थ के लिये किसी की हिंसा करे। 'अहिंसा परमोधर्मः'।

तेरहवाँ अध्याय

कृषि

पशुधन से उतर कर दूसरा धन 'कृषि' है, ऋग्वेद में आया है :—

एको द्वे वसुमती समीची इन्द्र आ पप्रौ पृथिवीमुत द्याम् ।   (ऋग्वेद ३-३०-३१)

(एकः इन्द्रः) अद्वैत परमात्मा ने, (द्वे पृथिवीं उत द्याम्) पृथिवी और द्यौ दोनों को, (समीची वसुमती आ पप्रौ) वसुमती अर्थात् धन देने वाली बनाया ।

यहाँ पृथिवी और द्यौ दोनों लोकों को वसुमती या धन देने वाली कहा है । जब दैव बरसता है तो पृथिवी अन्न उत्पन्न करती है । परन्तु मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने ज्ञान द्वारा भूमि से कृषि करके अन्न उत्पन्न करे । पशुओं के समान केवल दैव पर निर्भर न रहे ।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥

(अथर्व वेद ३ । १७ । १)

(देवेषु सुम्नयौ) देवों के प्यारे, (धीराः कवयः) बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग (सीरा युञ्जन्ति) हल को जोतते हैं । (पृथक् युगा वितन्वते) और बैलों के कन्धों पर जुआ लगाते हैं ।

इस मन्त्र में खेती करने वालों को 'कवि', 'धीर' और 'देवों' के प्यारे कहा है, क्योंकि संसार भर के लिये खाना उत्पन्न करना श्रेष्ठ और ज्ञानी पुरुषों का ही काम हो सकता है। पृथिवी वसुमती है, उसमें वसु या धन भरा पड़ा है। परन्तु बिना परिश्रम और ज्ञान के अन्न उत्पन्न नहीं होता। जंगली अशिक्षित मनुष्यों के पास लम्बे चौड़े भूमि भाग पड़े हैं जिन में किसी ने हल नहीं चलाया। वहाँ के लोग पृथिवी से खाना नहीं ले सकते। जब यही भाग शिक्षित विज्ञान-वेत्ताओं के स्वत्व में आ जाते हैं तो न केवल उन देशों के लिये ही अपितु अन्य देशों के लिये भी खाना सुलभ हो जाता है।

वेद कहता है :—

युनक्त सीरा वियुगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्। विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन्॥ (अथर्ववेद ३-१७-२)

(युनक्त सीरा) हल को जोतो, (युगाः वितनोत) जुओं को सीधा करो। (कृते योनौ) खेत में लीकें बनाओ। (इह बीजं वपत) और उनमें बीज बोओ। (विराजः श्नुष्टिः सभरा असन) ईश्वर की कृपा से हमारा भाग्य भरपूर हो। (नः नेदीय इत् सृण्यः पक्वं आ यवन्) और हमारी दरांती के पास पका हुआ अन्न आवे।

अर्थात् यदि हम लोग ज्ञान पूर्वक हल चलाकर भूमि को

जोतेंगे और लकीरों में बीज बोयेंगे तो ईश्वर की कृपा से अन्न उपजेगा और हम अपनी दरांती (हँसिया) से पके अन्न को काट सकेंगे।

ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०१* में इसी आशय को कुछ शब्दान्तर के साथ वर्णन किया है :—

युनक्त सीरा वि युगा तनध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमीयात् ॥ (मन्त्र ३)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् धीरा देवेषु सुम्नया ॥ (मन्त्र ४)

निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन ।
सिञ्चा महा अवत मुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ।
(मन्त्र ५)

मन्त्र ३ में 'गिरा' और 'श्रुष्टिः' दो शब्द हैं। 'गिरा' (वाणी) ज्ञान का द्योतक है और 'श्रुष्टि' अन्न का। ज्ञानी ही अच्छे किसान हो सकते हैं। समाज में किसानों का पद ऊँचा होना चाहिये क्योंकि भूमि पर लौकिक अन्न दाता वही हैं।

५ वें मन्त्र में (आहावान् निः कृणोतन) अर्थात् जलाशय बनाने का विधान है जहाँ गाय बैल जल पी सकें। (उद्रिणं

*यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र ६७, ६८ में भी यही है।

अवतम्) जलों से भरे हुये कुण्ड, कुएँ या तालाब। 'वरत्र' को हिन्दी में 'वर्त' या रस्सी कहते हैं। इनसे भावों को बांधकर सींचने के लिये पानी निकालते हैं। तात्पर्य यह है कि वेदों में खेतों के जोतने, बोने, सींचने और फसल काटने का उपदेश है।

यजुर्वेद अध्याय १८ के १२ वें मन्त्र में भिन्न भिन्न अन्नों के नाम दिये हैं :—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

यहाँ व्रीहि (चांवल), यव (जौ), माष (उड़द), तिल (मुद्ग), मूंग, खल्व, प्रियङ्गव, अणु, श्यामक नीवार आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के चांवल, गोधूम (गेहूँ), मसूर आदि अन्नों के उत्पन्न करने का विधान है। यह (यज्ञेन कल्पन्ताम्) अर्थात् यज्ञ द्वारा उत्पन्न होंगे। यज्ञ का अर्थ यहाँ कृषि यज्ञ है। कृषि या खेती करना यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ केवल आग जलाकर उसमें आहुति देना नहीं है। उपजीविका के लिये पदार्थों का उत्पन्न करना भी यज्ञ है। इस अर्थ में हर किसान यजमान या याज्ञिक है। राजा जनक को पौराणिक गाथाओं में शुनासीर या हल जोतने वाला कहा है। यह शुनासीर शब्द वेदों से लिया गया है।

शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै। (अथर्व वेद ३-१७-५)

(शुनासीरा अर्थात्) हल और हल चलाने वाले लोगों, (हविषा तोशमानाः) उपजीवन के पदार्थों से प्रसन्नचित्त होकर, (ओषधीः) पौधों को, (सुपिप्पलाः) फलवती, (कर्तम्) करो, (अस्मै) प्रजाजन के लिये।

यहाँ शुनासीरा, तोशमाना कर्तम् यह द्विवचनान्त हैं। कृषि कार्य और कृषक दोनों को सम्बोधन किया है। शुन अर्थात् हल और 'सीर' या उसका फलक यह दोनों कृषि कार्य के प्रतीक हैं।

खेती को सर्वोत्तम बताना प्राचीन वैदिक शिक्षा है। क्योंकि समस्त मानव जीवन का भौतिक भार कृषि पर हैं।

कृषि-यज्ञ का ही पूरक खनिज पदार्थों की प्राप्ति के लिये खनन यज्ञ है:—देखो

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मे श्यामं च मे लोहश्च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

(यजु १८-१३)

यहाँ (अश्मा) पत्थर, (मृत्तिका) मिट्टी, (गिरयः), चटानें, (पर्वताः) पहाड़ी पत्थर, (सिकता) बालू, (वनस्पतयः) पहाड़ी लकड़ियाँ (हिरण्य) सोना, (श्याम) शायद चाँदी, (लोह), लोहा सीसा, (त्रपु) जस्ते का वर्णन हैं। यह पदार्थ यन्त्र आदि के निर्माण में काम आते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

व्यापार

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु। नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि। (अथर्व वेद काण्ड ३, सूक्त १५, मन्त्र १-२)

यहाँ 'वणिज' या व्यापारी को इन्द्र कहा है। व्यापार के लिये यातायात की सुविधा चाहिये। मार्ग में डाकू (परिपंथिनं) और व्याघ्र आदि घातक जन्तु (मृग) न मिलें।

(ये बहवो पन्थानः) जो बड़े मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा) पृथिवी और द्युलोक अर्थात् अन्तरिक्ष में हैं जहाँ (देवयानाः) वायुयान चलते हैं। (ते मा पयसा घृतेन जुषन्तां) वे मुझे जीवन की सुविधायें दूध घी देवें। (यथा क्रीत्वा) जिससे मैं व्यापार करके (धनं) धन को (आहराणि) ले सकूँ।

यहाँ व्यापार मंडलों और व्यापारी वायुयानों का उल्लेख है। 'वणिज' अथात् बनिया इन्द्र है और उसके वायुयान देवयान हैं। 'क्रीत्वा' अर्थात् क्रय विक्रय करके ही व्यापारी एक देश का माल दूरस्थ देश में पहुँचा सकते हैं। और इसी से धन मिलता है। चार वर्णों में वैश्य मानव जाति का वह विभाग है जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति (कृषि, कला कौशल आदि) यातायात और विनिमय तथा धन-प्राप्ति के अन्यान्य विभागों से है।

शिक्षा, चिकित्सा, कला कौशल आदि के विषय में बहुत सामग्री है जो स्थानाभाव से नहीं दी जा सकती।

मुद्रक—विश्वप्रकाश, कला प्रेस, प्रयाग।

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत अंग्रेजी ग्रंथ

Philosophy of Dayananda	10·00
Light of Truth	7·50
Social Reconstruction by Buddha & Dayananda	2·00
Vedic Culture	3·50
Life After Death	1·25
Daily Home or Agnihotra	0·12
Landmarks of Dayananda's Teaching's	1·00

Religious Renaissance Series

Bound Rs. 2·50; Ordinary Rs. 1-50

Reason & Religion

Swami Dayananda's Contribution to Hindu Solidarity.

I and My God

The Origin Scope & Mission of Arya Samaj

Worship

Superstitition

Christianity in India

Marriage & Married Life

Humanitarian Diet (Dr. Satya Prakash)	2·50
Life & Teachings of Swami Dayananda (Vishwa Prakash, B. A., LL. B.)	30·0

मनुष्य के कर्तव्य

[DUTIES OF MAN]

श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ
(स्वामी प्रेम-भिक्षु)

मूल्य १=)

मनुष्य के कर्तव्य

[DUTIES OF MAN]

लेखक—

श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ

(स्वामी प्रेम-भिक्षु)

प्राप्तिस्थान—

श्री रामलाल मल्लिक

५/६० कनाट सरकस, न्यू देहली।

तृतीय संस्करण	चैत्र २००५ मार्च १९४९	मूल्य १=)

प्रकाशक—
संयम
पब्लिशर्ज़ लिमिटेड
नई दिल्ली।

लेखक की रचनाएं
1. गायत्री महत्त्व
2. वैदिक लोरियां
3. मनुष्य के कर्तव्य
4. प्रेम का मार्ग

मुद्रक—
श्री तिलोकचन्द 'जैन'
इन्द्रप्रस्थ प्रिंटिंग प्रेस,
किन्ज़ रोड, देहली।

भूमिका

यह मनुष्य-जीवन सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की सर्वोत्तम रचना है। शेष सम्पूर्ण जड़ चेतन सृष्टि मनुष्य को अपनी महत्ता प्रकट करने और सृष्टि को व्यावहारिक रूप में रखते हुए उसका सदुपयोग करने के लिये साधन रूप में बनाई गई है। संसार की प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसे विशेष गुण होते हैं, जिन से उसकी पहचान की जा सकती है और उन गुणों के अभाव में उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता। जैसे प्रत्येक चमकने वाली या सोने के रङ्ग की वस्तु सोना नहीं है, उसी तरह प्रत्येक दो टांगों, दो हाथ और एक सिर वाला मनुष्य दिखाई देने वाला व्यक्ति मनुष्य नहीं है।

अग्नि के स्वाभाविक गुण ताप, प्रकाश, चमक आदि हैं। जिस चीज़ में ये गुण नहीं, वह अग्नि नहीं। इसी तरह मनुष्य में भी पशु, पक्षी आदि अन्य चेतन प्राणियों की अपेक्षा कुछ विशेष गुण हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर मनुष्य को महान् शक्ति-सम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ प्राणी और ईश्वर की सर्वोत्तम रचना कहा जा सकता है। मनुष्य के ये सब गुण उसके अन्दर ही विद्यमान हैं; यदि वह चाहे और उसे उचित शिक्षा मिले तो वह उन गुणों का विकास कर सकता है। जिन माननीय गुणों के आधार पर मानव जन्तुसृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य कहलाता है, ये गुण ही मनुष्य के धर्म हैं। 'मनुष्य के धर्म' को 'मनुष्य के कर्तव्य' (Duties of man) भी कहा जा सकता है। यद्यपि कर्तव्य

(duties) शब्द से 'धर्म' का पूर्ण बोध नहीं होता। 'धर्म' के जो अनेक अर्थ प्रचलित रहे हैं, उन में एक अर्थ 'कर्तव्य' भी है। इस पुस्तक में मनुष्य के इन्हीं कर्तव्यों का वर्णन किया है।

जिस तरह अग्नि लकड़ी के अन्दर विद्यमान है; परन्तु उसे प्रकट करने तथा उसका सदुपयोग लेने के लिए अनेक साधनों से काम लेना पड़ता है। बल्कि तप भी करना पड़ता है। लकड़ी को सुखाना, साफ करना, उसे आग से संयुक्त करना और उस पर पकान्न बनाना आदि। इसी प्रकार मनुष्यों के अन्दर जो गुण विद्यमान हैं, उनका प्रकाश करने तथा समुचित उपयोग लेने के लिए अनेक तप करने होते हैं। देखा यह जाता है कि अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति (Free Will) का उपयोग मनुष्य प्रायः अपने मानवीय गुणों के विकास तथा मनुष्य जीवन के सदुपयोग में नहीं लगाता, अपितु अपने मस्तिष्क की सहायता लेकर वह अपने कर्तव्यों से बचने और उन्हें दूसरों पर लादने का प्रयत्न करता है। यही मनुष्य की निर्बलता है। और मानव-स्वभाव की इसी कमजोरी का परिणाम आज की यह विश्वव्यापी अशान्ति है।

दूसरी ओर यदि मनुष्य आत्म-नियन्त्रण कर अपनी शक्तियों का उपयोग अपने कर्तव्य पालन के लिए करे, तो संसार का रूप ही बदल जाय। मनुष्य के जो कर्तव्य उसे मनुष्य बनाते हैं उन्हीं का वर्णन इस पुस्तक में है। यदि मनुष्य इन कर्तव्यों का सम्यक्तया पालन करे तो वह न केवल मनुष्य पद प्राप्त कर सकता है अपितु वह देवत्व भी प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के अन्दर जो महान् ज्योति और शक्ति विद्यमान है, वह इन कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करने से प्रकट हो जाती है और जब

मनुष्य उस से काम लेने लगता है तो वह विचित्र शक्तियों का स्वामी हो जाता है। यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

यह सारी पुस्तक एक तरह से वेद के एक ही मन्त्र, जिसे कर्ज़ से बेबाक़ होने के सम्बन्ध का कहा जा सकता है, की व्याख्या है।

इस पुस्तक के लिखने में श्री पं० मुकन्दराम जी शास्त्री लुधियाना निवासी ने मुझे बहुत सहायता दी है। उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

१८, रैटीगन रोड,
लाहौर।

—चिरंजीवलाल

प्रथम वैशाख, १९९९.

मनुष्य के कर्तव्य

[१]

प्रारम्भिक

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्,
तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः,
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥

शब्दार्थः—(अस्मिन् अनृणाः) इस लोक में हम उऋण होवें (परस्मिन् अनृणाः) परलोक में भी उऋण होवें और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तीसरे लोक में भी उऋण होवें (ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः) जो देवयान या पितृयान मार्गों के लोक हैं। (सर्वान् पथः) सब मार्ग चलते हुए हम (अनृणाः आक्षियेम) ऋण से मुक्त होकर रहें।

भावार्थः—जैसे सांसारिक माता अपनी सन्तान को शिक्षा देकर उत्तम बनाने का यत्न करती है और हर तरह के दुःखों से बचने और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के निमित्त उपदेश करती है, इसी प्रकार वह जगत्-माता सब मनुष्यों को अपनी सन्तान की तरह उनके कल्याण के लिये इस वेद मन्त्र के द्वारा उपदेश करती है। वह कहती है:—

हे कल्याण इच्छुक मनुष्य! यदि तू अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है और अपने जीवन के प्रत्येक उद्देश्य में सफलता चाहता है अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक इन सर्व प्रकार के दुःखों से बचकर सुख और शान्ति के स्रोत में गोता लगाना चाहता है। यदि तू आरोग्य दीर्घ-आयु, धन-सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के सुख को भोगना चाहता है, अपने गार्हस्थ्य जीवन को भी स्वर्ग-सम देखना चाहता है तथा मानव-जीवन के चरम-लक्ष्य मुक्ति को भी प्राप्त करना चाहता है, तो इस मन्त्र में निर्दिष्ट उपदेशानुसार जीवन व्यतीत कर। इस-वेद मन्त्र में 'लोक' शब्द आया है, जिसके अर्थ जहां स्थान, अवस्था तथा योनि के हैं, वहां आश्रम के भी हो सकते हैं, जैसा कि विवाह संस्कार के मन्त्रों में कहा गया है "हे देवि, तू-अब पितृलोक से पतिलोक को प्राप्त हो, अर्थात् ब्रह्मचर्य-आश्रम से गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश कर।" इसलिये यहां उपदेश है कि हे मनुष्य तू जिस अवस्था अथवा आश्रम में जहां कहीं भी हो, तुझे ऋण से उऋण होकर

रहना उचित है। क्योंकि ऋणी कभी सुखी नहीं हो सकता। हम सांसारिक व्यवहार में भी प्रतिदिन देखते हैं कि जो मनुष्य किसी व्यक्ति से उधार लेता है, और निर्दिष्ट समय पर दे नहीं सकता उसको लज्जित होना पड़ता है। जैसे किसी हिन्दी कवि ने भी कहा—

उत्तमर्ण के सामने, होत ऋणी द्युतिहीन।
जिमि दिनकर के दर्श में हिमकर कान्तिमलीन।

अर्थात् चन्द्रमा अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं है वह अपने प्रकाश के लिये सूर्य का ऋणी है। इसलिए सूर्य के सामने कान्तिहीन रहता है। ऐसे ही ऋणी अपने ऋणदाता के सामने सर्वदा लज्जित रहता है।

इसी प्रसंग में एक कथा महाभारत में भी आती है। जब पाण्डव बनवास के कारण वन में घूम रहे थे, और बहुतकाल तक जल न मिलने के कारण सब भाई द्रौपदी के सहित व्याकुल हो रहे थे, तब बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञानुसार भीम एक ऊँचे स्थान पर गया। वहाँ पर उसने वृक्षों का झुंड देखा और इस अनुमान से कि वहाँ जल अवश्य होगा, एक बर्तन लेकर उस ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर उसने सुन्दर शीतल जल का एक सरोवर देखा। सरोवर के निकट जाकर जब जल पीने की इच्छा से उसने अपना हाथ बढ़ाया, तो कोई गुप्त शब्द उसको सुनाई दिया कि हे भीम! इस सरोवर पर मेरा अधिकार है। इस लिए मेरी आज्ञा के बिना जल

पीने से तू अनधिकार चेष्टा का भागी बनेगा। और जिसके परिणाम में मैं तुझे मूर्छित कर देने का दण्ड दूँगा; परन्तु मेरे कुछ प्रश्न हैं, यदि तू उनका उत्तर देकर पानी पियेगा, तो तुझे कोई कष्ट नही होगा और अपने भाइयों के लिये भी तू पानी ले जा सकेगा। परन्तु भीम ने अपने शारीरिक बल तथा गदा के अभिमान से उस आवाज की ओर ध्यान नहीं दिया। ज्यों ही भीम ने जल को स्पर्श किया, यक्ष ने उसे मूर्छित करके एक ओर उठा कर रख दिया। भीम के बहुत काल तक जल लेकर वापिस न आने पर युधिष्ठिर ने अर्जुन को भेजा। परन्तु अर्जुन ने भी अपने गाण्डीव धनुष और अपनी शक्ति के अभिमान में उस यक्ष की आज्ञा की ओर ध्यान न दिया। और यक्ष ने उसे भी मूर्छित करके भीम के पास सुला दिया। इसी प्रकार युधिष्ठिर के भेजे हुए नकुल सहदेव भी मूर्छित कर दिये गए। इसके पश्चात् युधिष्ठिर स्वयं आये और युधिष्ठिर ने उस यक्ष के शब्द को धैर्य से से सुना। यक्ष की बात सुनकर युधिष्ठिर ने यह विचारा कि जहां इतनी देर प्यास को सहन किया है वहां और थोड़ी देर प्यास सहन करने में कोई विशेष हानि नहीं। अनधिकार चेष्टा वास्तव में पाप ही है, चाहे जल की ही क्यों न हो। मेरे भाईयों ने अपराध किया है। इसलिये युधिष्ठिर ने उस यक्ष से पूछा, जोकि गुप्त रूप से बोल रहा था, कि अपने प्रश्न बताओ जिससे उनका उत्तर दिया जावे। इस पर यक्ष

ने युधिष्ठिर से दस प्रश्न किये, जिनका उत्तर युधिष्ठिर से सन्तोषजनक प्राप्त होने पर यक्ष ने प्रसन्न होकर युधिष्ठिर को जल पीने की आज्ञा दे दी और उसके भाईयों की मूर्छा भी दूर कर दी।

उन प्रश्नों में से एक प्रश्न का इस विषय से सम्बन्ध है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—'को मोदते ?' अर्थात् संसार में कौन सुखी है

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि 'अनृणः अप्रवासी च स वारिचर मोदते।'

अर्थात् जो मनुष्य अपनी नेक कमाई से प्रातःकाल से सायंकाल तक परिश्रम करके यदि कुछ शाक ही कमाकर लाता है और अपने परिवार में मिल कर खाता है। और जिसने किसी का ऋण नहीं देना है, वही संसार में प्रत्येक प्रकार से सुखी है।

इस कथा से भी यही ज्ञात होता है कि धर्म के जानने वाले और उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करने वाले थोड़ी अनधिकार चेष्टा को भी ऋण समझते थे। अपितु किसी के साथ प्रतिज्ञा किये हुए समय में उसका कार्य ठीक न करके उस समय में किसी और प्रकार से वेतन प्राप्त करना भी वे ऋण समझते थे। क्योंकि ऐसी कमाई बुद्धि मन व आत्मा को भी मलिन करती है। शास्त्रकारों ने माता-पिता अथवा

श्वशुर आदिके धन को भी तमोगुण-प्रधान कहा है। और यह धन भी एक प्रकार का ऋण माना गया है जोकि सन्तान को अधोगति में ले जाता है। यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यापार के लिए तो ऋण लेने की आवश्यकता होती ही है। और यह ठीक है, परन्तु व्यापारी व्यापार के लिए हुए कर्जे को अपना समझ कर व्यय न करे अपितु व्यापार में जो लाभ हो उसी को अपने उपयोग में लावे। मूलधन जिसका है, उसको उसी का समझ कर वापिस करने का मन में ध्यान रखे तब ही उसका व्यापार सके लिये सुखदायक और दुःखनाशक होगा। इसी ऊपर लिखे दृष्टान्त या वेदमन्त्र की भावना को ध्यान में रखते हुए किसी स्त्री पुरुष को भी गृहस्थ सम्बन्धी संस्कारों पर और थोड़े दिन की झूठी कीर्ति के लिये भी ऋण लेकर व्यय नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऋणी होकर अथवा अपने गृहस्थ के अनावश्यक, अनुचित खर्चों को बढ़ा कर असत्य, व्यवहार अर्थात् धोखा फरेब रिश्वत आदि से, अथवा गरीबों को दुःखी करके, धन कमाने के लिये मनुष्य बाधित होता है और अपने गृहस्थ जीवन को नरक बना लेता है। मृत्यु के भय से कोई मनुष्य अपने गृह नगर या देश को छोड़ता हुआ नहीं देखा जाता। परन्तु ऋणी मनुष्य ऋण को चुकाने के दुःख भय, लज्जा से बचने के लिए अपने गृह, नगर, देश तथा सम्बन्धियों को छोड़ कर दूर भाग जाता है। और कितने वर्षों तक गुमनाम छिप कर रहता है। और जब तक ऋण चुकाने के लिए कमाई

नहीं कर लेता, घर नहीं लौटता। वह दुःखी जीवन व्यतीत करता है। इसलिये ऋणी होने का दुःख मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक है। ऊपर के वेदमन्त्रद्वारा उस जगत-माता ने हमको उपदेश किया है कि हे मनुष्य! तू सुख चाहता है तो किसी भी अवस्था या आश्रम में ऋणी न बनना। यही उपदेश सन्ध्या के प्रथम मन्त्र में किया गया है, अर्थात् सुख-आनन्द की प्राप्ति का मूलमन्त्र (नुस्खा) बताया गया है।

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयो-रभिस्रवन्तु नः॥

इस वेद मन्त्र में मनुष्य का सर्वोत्तम लक्ष्य बतला कर (शंयोरभिस्रवन्तु नः) कि चारों ओरसे आनन्द की वर्षा हो या आनन्द बहे। पहले शब्दों में इस लक्ष्यकी प्राप्ति का साधन (नुस्खा) बतला दिया है। (शन्नोरभिष्टये) अर्थात् हे मनुष्य! यदि तू आनन्द ही आनन्द चारों ओर से चाहता है तो अपनी इच्छाओं या विचारों को कल्याणकारी अर्थात् पवित्र बना। और (आपो भवन्तु पीतये) आपः का अर्थ ईश्वर, जल वा प्रकृति भी है। और प्रकृति में अन्न जल दोनों आजाते हैं। इसलिये इन शब्दों का अर्थ यह हुआ कि अन्न-जल को भी पवित्र बना या अन्न, जल पवित्र होवें। अर्थात् जीव को सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिये ईश्वर से विचार पवित्र करने और अन्न जल पवित्र करने के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्य का मन पवित्र या अपवित्र

अन्न जल तथा पवित्र या अपवित्र विचारों से ही बनता है और मन ही मनुष्य के मोक्ष बन्धन अथवा उन्नति अवनति का कारण है। क्योंकि जो कुछ मनुष्य खाता पीता है उसका अन्तिम सूक्ष्म रस रक्त के पश्चात् वीर्य ओज है। जिसके आधार पर यह शरीर खड़ा है। और ओज को सूक्ष्मतम मन कहा गया है। इसलिये यदि मनुष्य की कमाई नेक नहीं है, तो वह मनुष्य अवश्य ऋणी है। क्योंकि वह किसी का हक़ खा रहा है और इसलिये उसको सदा लज्जा शंका भय अवश्य बने रहते हैं; जो कि अधोगति के चिन्ह हैं। इसलिये उसके विचार या इच्छाएं भी पवित्र नहीं हो सकतीं।

नीचे लिखे दृष्टान्त से यह विषय स्पष्ट हो जावेगा। एक आटा या गेहूं बेचने वाले दूकानदार से किसी ग्राहक ने रुप १ देकर के आटा लिया और तब परिवार में पहुंच कर उसने भोजन बनवा कर खाया; कोई भय, लज्जा या चिन्ता उसको नहीं है। एक दूसरा व्यक्ति दूकानदार की अनुपस्थिति में उसकी बोरी में से आटा लेकर भाग आता है। मार्ग में भी दुःख भय चिन्ता लगी हुई हैं। वह भागता जाता है और पीछे भी देखता जाता है, कि कहीं पकड़ा न जाऊं। राजपथ को छोड़ कर टेढ़ी गलियों में से छिप २ कर घर जाता है और जाते ही दरवाज़ा बन्द कर लेता है। और डरता हुआ बार २ बाहर की ओर देखता है, कि कोई आदमी या कोई सिपाही पकड़ने के लिये तो नहीं आगया है।

इस वृत्तान्त को जानकर उसका सब परिवार भोजन तो कर रहा है परन्तु भयभीत हो रहा है। कुछ समय तक वह व्यक्ति उस दूकानदार के सामने से नहीं गुज़रता ताकि कहीं पहिचान न ले। अपितु जब तक जीवित रहता है जब उधर से गुज़रता है तो उसको अपने अनिष्ट पाप कर्म का स्मरण हो जाता है। वह लज्जित होता है और कितनी ही बार पश्चत्ताप करता हुआ दुःखी ही होता है। अब विचारना यह है कि दोनों व्यक्तियों का आटा एक ही बोरी का था। आटे में कोई भिन्नभेद नहीं था। एक को वह आटा सुख देता है, और दूसरे को दुःख देता है, क्योंकि दूसरे का आटा ऋण का था, क्योंकि उसने वह अनधिकार से प्राप्त किया था। इसलिये सन्ध्या के प्रथम मन्त्र में मनुष्य को प्रातःकाल दोनों समय यह स्मरण कराया जाता है, कि हे मनुष्य ! यदि तू आनन्द की वर्षा चारों तरफ से चाहता है तो किसी का ऋणी न बन।

अब प्रश्न यह है कि ऋण क्या वस्तु है? वास्तव में कर्त्तव्य ही ऋण है अर्थात् कर्त्तव्य (Duty) का यथार्थ रूप में पालन न करना ऋणी होना है। और कर्त्तव्य कर्म ही धर्म है। दूसरे शब्दों में कर्त्तव्य या धर्म को यथार्थ न जानना और विचारना और यथार्थ न पालन करना ही ऋणी बनना है। क्योंकि जो मनुष्य धर्म या कर्त्तव्य को यथार्थ नहीं समझता, वह यथार्थ वर्णन और यथार्थ कर्म भी नहीं कर सकता। अर्थात् उलटा या विपरीत समझता बोलता और

करता है। उलटे कर्म का फल सदा दुःख ही होगा, सुख आनन्द नहीं हो सकता। एक अंगरेज़ विद्वान् ने लिखा है कि—

"Dharma is the law governing universal evolution."

अर्थात् धर्म वह नियम है जिसके द्वारा दुनियां का शासन हो रहा है। अर्थात् धर्म सृष्टि-नियम है। परन्तु सृष्टि-नियम किसी का ऋणीनहीं रहता। इसलिये धर्म वह कर्म है जो मनुष्य जीवन की सृष्टि-नियम के अनुकूल जीवन व्यतीत करने में सदायक होता है। मनुष्य जन्म मिला ही इसलिये है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य या धर्म को समझे अथवा मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त कर सके कि उस पर कौन सा ऋण है और उससे उऋण हो जावे। क्योंकि यह एक मनुष्य योनि ही है जिस में मनुष्य अपने ऋणों का ज्ञान प्राप्त कर और उनसे उऋण होकर सांसारिक सुखों को भोग सकता है। अर्थात् जहां प्रभु की सृष्टि का उचित उपयोग करके उस संसार को अपने लिये सुख आनन्द का साधन बना सकता है, संसारिक बन्धनों या विषय वासनाओं की हथकड़ियों, और जेलखानों को तोड़ कर, मुक्ति के पूर्ण-आनन्द को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि सत् चित् तो जीव भी है केवल आनन्द की न्यूनता है। और वह सांसारिक ऋणों की भांति मानसिक व आत्मिक ऋणों से उऋण होने पर ही प्राप्त हो सकती है। अपितु, जब तक मनुष्य

अपने ऋणों से उऋण नहीं होता तबतक मनुष्य काजन्म मरण के चक्र अर्थात् माताओं के गर्भरूप जेलखानों में आना और कष्ट सहना ही पड़ेगा। इन वारंट गिरफ्तारियों से वह बच नहीं सकता और तब तक वह भय, लज्जा, शंका, चिन्ता आदि व्याधियों में ग्रस्त ही रहेगा। इसलिए मनुष्य चाहे कितनी ही पुस्तकें कण्ठ करले, कितना बड़ा विद्वान् या कथावाचक या व्याख्याता हो जाय, डाक्टर वैद्य, वकील या प्रोफेसर अथवा व्यापारी बन जाय यदि वह समय पर अपने कर्त्तव्य कर्म को ठीक नहीं समझता तो उसका ठीक पालन न कर सकने से अपनी जीवन यात्रा में सदा असफल रहेगा। इस लिये उसकी विद्या, चाहे वह चारों वेदों का वक्ता, ही क्यों न हो उसके जीवन को ऊंचा उठाने में कुछ सहायक नहीं हो सकती। जैसे एक कवि ने भी कहा है—

न हो जिस में अमल; और हो किताबों से लदा फिरता।
जफ़र उस आदमी को, हम तसव्वर बैल करते है॥

प्रमाणपत्र या डिगरियां प्राप्त कर लेना और बात है और अपने कर्तव्य या धर्म को समझना और उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना यह एक पृथक् विद्या है, जो कि केवल प्रमाणपत्र या डिगरियां प्राप्त करने से नहीं मिल सकती। वास्तव में यही विद्या है जो मनुष्य को मनुष्यत्व का पद प्रदान करती है, और सुख आनन्द के स्रोत तक पहुँचा देती है।

वास्तव में विद्यालय महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय खोलने का उद्देश्य यही था कि मनुष्य अपने कर्तव्य या धर्म को ठीक-ठीक समझ कर सुखी जीवन व्यतीत करे। किसी कवि का वचन है—

हक़ तो यह है कि सदा हक़ पै तेरा ध्यान रहे।
हक़ की बातों को सदा सुनते तेरे कान रहें॥

कर्त्तव्य का पालन न करना मानव जीवनोद्देश में महती त्रुटि है। इसी त्रुटि ने गृहस्थ जीवन को नरकोपम बना दिया है। गृहस्थाश्रम ही सर्व आश्रमों में जीवन ज्योति का संचार तथा प्रसार करने वाला है। उसके नियमानुसार न होने से सर्व आश्रम दुःखदायक हो रहे हैं। कर्त्तव्य पालन ही मनुष्य को मनुष्य बनाने का अधिकार प्रदान करता है। कर्त्तव्य पालन में ही शास्त्रकारों ने माता पिता तथा शिक्षक को महान् सम्मान का पात्र स्वीकार किया है। कर्त्तव्य कर्म के पालन बिना इन में से कोई भी सम्मान का अधिकारी नहीं है।

केवल संतान उत्पन्न करने से ही कोई व्यक्ति माता पिता नहीं बन सकते, किन्तु संतान को परिवार, जाति, देश तथा विश्व के कल्याण-कर्त्ता बनाने से ही माता पिता तथा शिक्षक अपने पद के अधिकारी कहला सकते हैं। संतान का उत्पन्न करना, रक्षण करना तथा उसकी वृद्धि करना ये तीनों गुण तो पशु पक्षी तथा वनस्पति जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं। माता पिता तथा शिक्षक वे ही कहला सकते हैं, जो

संतान को विशेष गुणगरिमा से गौरवान्वित करते हैं। यदि माता पिता तथा शिक्षक योग्य नहीं हैं तो इन उत्तम पदों को ग्रहण करने का उनको कोई अधिकार नहीं मिल सकेगा। किसी कवि का वचन है--

सन्तरी ही चोर हो तो कौन रखवाली करे।
उस बाग़ का क्या हाल, जहां माली ही पामाली करे ॥

जो माता पिता और शिक्षक अपनी संतान के प्रति अपना कर्तव्य पालन कर उनको योग्य बनाने का यत्न नहीं करते, वे देश के अत्यन्त ऋणी हैं। आत्मनिरीक्षण की भावना जब तक मानव समाज के मानसपटल पर अधिकार नहीं करती, तब तक किसी भी व्यक्ति का चरित्र निर्मल तथा उच्च नहीं बन सकता। भारतीय माता पिता तथा शिक्षकों को उचित है कि वे अपना आत्म-निरीक्षण करें। क्योंकि आत्म-निरीक्षण तथा परीक्षण से दोषनिष्कृति तथा विशेष गुणाधान होने पर मनुष्य उन्नति के चमस्थान पर पहुँचने का अधिकार प्राप्त करता है और सांसारिक मनुष्यों के सन्तप्त हृदयों को शान्ति प्रदान करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को अमर बनाता है।

इसी संबन्ध में एक घटना उदाहरणरूप में यहां दी जाती है। यह घटना ७ जुलाई १९४० के 'ट्रिब्यून' में प्रकाशित हुई थी। इसका शीर्षक है:—

Thirty-nine years' agony

Copy of a letter sent to the Secretary of the Railway Board, Government of India, with a money order of Annas two: "I beg to say that at the time of the Delhi Durbar held in 1901, I was at Kingsway; it was very cold. I could not stay there. There was nothing in my poket, so I travelled without a ticket. There was a great rush, so I could not be checked but my conscience has been checking me for so many years. To satisfy my conscience and remove the pressure in my mind, I send you the money due. I can pay any penalty that you suggest. I hope you will kindly receive the little sum and oblige."

३९ वर्ष की घोर व्यथा

गवर्नमेंट-आफ इंडिया रेलवे बोर्ड के मन्त्री को दो आने के मनीआर्डर के साथ निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ है—

"मैं नम्रता पूर्वक निवेदन करता हूं कि १९०१ के देहली दरबार के समय में किंगज़-वे नामक स्टेशन पर था। (किंगज़-वे एक छोटे स्टेशन का नाम है जो कि उस समय के लिये ही बनाया गया था) मौसम कुछ सर्द था। मैं वहां ठहर न सकता था, मेरे जेब में कोई पैसा भी नहीं था। इसलिये मैंने बिना टिकट देहली तक यात्रा की थी। यहां पर भीड़

बहुत थी, इसलिए टिकट के सम्बन्ध में मुझ से किसी ने पूछताछ नहीं की। किन्तु ३६ वर्ष तक मेरा मन मेरी भर्त्सना करता रहा। अपने मन के भार को दूर करने के लिए मैं आपको वह दो आने की रकम जो मेरे सिर पर ऋण है, मनीआर्डर द्वारा भेजता हूं। इसके लिए जो भी आप दण्ड मेरे लिए उचित समझें दें, उसको भोगने के लिए तैयार हूं।

मैं आशा करता हूं कि आप यह छोटी सी रकम स्वीकार कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।"

दूसरा दृष्टान्त मैं अपने ही जीवन का उपस्थित करता हूँ। सन् १६१० या ११ में श्री महामना मालवीय जी काश्मीर पधारे। उनके आगमन का उद्देश्य था हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए धन संग्रह करना। मैं उस समय भारत नैशनल बैंक श्रीनगर का प्रबन्धकर्ता था। हजूरीबाग श्रीनगर में उसी सम्बन्ध में एक विराट सभा का आयोजन किया गया। उस समय अनेक भद्रपुरुषों ने यथाशक्ति यूनिवर्सिटी के लिए दान लिखवाया था। मैंने भी १५ रुपये देने की प्रतिज्ञा की थी। श्री मालवीय जी तो कुछ दिनों पश्चात् श्रीनगर से चले गये। पश्चात् लगभग १५ वर्ष तक मैंने इस प्रतीज्ञा को पूरा करने का कष्ट न किया। सम्भव है, इसलिए कि व्यक्तिगत तौर पर चन्दा इकट्ठा करने वाला कोई व्यक्ति मेरे पास न आया था। परन्तु सन्ध्या करने के समय प्रतिज्ञा भंग का भय मूर्त्त रूप धारण कर मेरे सामने उपस्थित हो जाता था और मुझे जिसके कारण असीम मनस्ताप सताने लगता था।

उसके कारण कभी-कभी उपासना में चित्त न लगता। सैंकड़ों बिच्छू काटने का जैसा कष्ट होता हैं। उन विचारों ने मुझे बाधित किया कि मैं शीघ्र से शीघ्र अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करूं, और जब प्रतीज्ञा पूरी कर दी, अर्थात् १५) रुपये मैंने हिन्दू विश्वविद्यालय को भेज दिये तो भार से अपने अन्तःकरण को हलका अनुभव किया, और चित्त अतिप्रसन्न हुआ। उसके पश्चात् उन विचारों ने मेरे एकान्तसेवन में कोई बाधा उपस्थित नहीं की।

इन उदाहरणों से पाठकगण यह अच्छी प्रकार अनुभव कर सकेंगे कि साधारण तौर का कहा जाने वाला ऋण भी मनुष्य के लिए उसकी जीवन यात्रा में महान् कष्टदायक है, तो क्या यह ऋण अगामी जीवन में कष्टदायक न होगा।

सांसारिक साधारण व्यवहार में भी प्रातज्ञाभंग से संसार में मनुष्य विश्वास-पात्र नहीं रहता और दुनियां में अप्रतिष्ठा का पात्र बनता है। प्रत्येक प्रकार के कार्यक्षेत्र में अविश्वासी मनुष्य सर्वदा असफल होते हैं। प्रत्येक प्रकार की मानसिक आत्मिक तथा भौतिक सम्पत्तियां अविश्वासी पुरुष से उसी प्रकार दूर भाग जाती हैं, जैसे पतझड़ के मौसम में वृक्ष से प्रत्येक प्रकार के फूल पत्तियां और फल झड़ जाते हैं। जिस प्रकार पुष्पफलविहीन वृक्ष को पक्षी त्याग देते हैं उसी प्रकार वह मनुष्य भी भद्रसमाज का घृणास्पद हो जाता हैं

किसी विचारक ने भी कहा है—

"When wealth is lost nothing is lost
when health is lost something is lost
when character is lost everything is lost"

धन नष्ट होने पर कुछ नष्ट नहीं होता। स्वास्थ्य नष्ट होने पर थोड़ा बहुत नुकसान होता है, परन्त चरित्र नष्ट होने पर मनुष्य का सब कुछ लुट जाता है और उस व्यक्ति का सर्वस्व नाश हो जाता है। इसलिए ऋण से उऋण होना ही मनुष्य का कर्त्तव्यअथवा धर्म कहा जाता है। और यही प्रत्येक प्रकार की सुख-सम्पत्ति का अमोघ साधन है। इसके विपरीत अर्थात् कर्तव्य का पालन करना ही प्रत्येक प्रकार के दुःख का कारण है। जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है कि—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

यदि संक्षेप से धर्म का लक्षण किया जावे तो यही उचित होगा कि वे कर्तव्य कर्म जिन के करने से मनुष्य अपने मनुष्यत्व को स्थिर रख सकना है, और जिनको न करने से मनुष्य अपने मनुष्यत्व से वञ्चित हो जाता है, और जिन कर्तव्य कर्मों का मनुष्यमात्र के लिए जानना और उनके अनुकूल आचरण करना आवश्यक है, उन्ही कर्मों के समुदाय को धर्म नाम से पुकारा जाता है। उन्हीं कर्तव्य कर्मों का बतालना तथा उनका व्याख्यान करना ही इस पुस्तक के लिखने का मुख्य उद्देश्य है।

इसी सम्बन्ध में कतिपय महान् पुरुषों के विचार उद्धृत किये जाते हैं। जिससे जनता को इस विषय के गौरव का ज्ञान हो।

(३) महात्मा प्लेटो (जिनको अफालतूं भी कहते हैं) का कथन है कि—

"Leet men of all ranks whether they are successful or unsuccesful, whether they are triumphant or not, let them do their duty and rest satisfied"

"मनुष्य चाहे किसी भी अवस्था में हो चाहे वह सफल हो या असफल, चाहे उसको विजय हो या पराजय, उसको अपना कर्त्तव्य पालन करना ही चाहिये और शान्त रहना चाहिये।

अमेरिका के भूतपूर्व प्रधान अब्राहिम लिंकन मनुष्यों के कर्तव्यों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"With malice towards none, with charity for all, with firmness in the right as God gives us to see the right, let us strive one to finish the work we are in"

(१) किसी भी व्यक्ति के लिए बुरे विचार का न होना।

(२) प्रत्येक के लिए उदारता के भाव रखना।

(३) सत्यता में दृढ़ता। क्योंकि भगवान् ने हमको जो भी शक्ति प्रदान की है उन सब का उद्देश्य सच्चाई का दर्शन

करना ही है। मनुष्य को प्रत्येक कार्य को उपर्युक्त रीति के अनुसार ही करते रहना चाहिये।

(३) महात्मा गेटे लिखते हैं। हमारे कर्त्तव्य के पास वह कुंजी है जो हमारे लिये स्वर्ग के द्वार का ताला खोलेगी। न शीघ्रता से न विलम्ब से किन्तु यथोचित समय पर जो मनुष्य पहुँचेगा वही इस स्वर्गीय दृश्य को देख सकेगा। दूर चमकने वाले तारे की भाँति है, प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने दैनिक कर्त्तव्य (Daily Duties) की दृढ़ता से परिक्रमा करे।

(४) महात्मा जेम्ज़ एलन लिखते हैं "वह बात नहीं है कि स्वयं कर्त्तव्य पालन में ऐसी शक्ति है कि जो मनुष्य को सुख या दुःख देती है किन्तु सुख और दुःख देने वाला मन का वह भाव है जिससे कर्त्तव्य पालन किया जाता है जिस भाव से हम कर्त्तव्य परायणता को पहुँचते और कर्तव्य पालक बनते हैं उसी पर प्रत्येक कार्य अवलम्बित है। छोटे २ कार्यों को निःस्वार्थ विवेक और पूर्णता से करने से बहुत बड़ा सुख ही नहीं मिलता, किन्तु बड़ी भारी शक्ति भी प्राप्त होती है।

(५) डाक्टर मार्डन लिखते हैं। कोई कार्य हाथ में होने से पूर्व, किसी इच्छा पूर्ण करने के यत्न से पहले यह सोचो कि यह कार्य और इच्छा अनुचित हैं तो उसके लिए यत्न न करो और उसको छोड़ दो। आप दुःख कष्ट से बच जाओगे।

यदि कोई कार्य आवश्यक तथा उचित है अर्थात् तुम्हारा कर्त्तव्य (Duty) है और जिम्मेवारी है तो पूरे परिश्रम तथा साहस, प्रेम और उत्साह से करो। इसी प्रकार आपको सुख की प्राप्ति होगी, स्वर्ग या सुख की वृद्धि होगी। क्योंकि कर्त्तव्य को ध्यान में लाते ही स्वार्थ अज्ञान तथा बुराई भाग जाते हैं।

(६) एक और महात्मा लिखते हैं कि कर्त्तव्य (Duty) एक भार है। जो कर्त्तव्य पालन नहीं करता वह बोझ से दबा हुआ है, इसलिए वह आज़ाद या स्वतन्त्र नहीं कहला सकता क्योंकि परतन्त्रता ही दुःख है।

(७) महात्मा गांधी कहते हैं कि जिस समय भारतवर्ष की जनता कर्तव्य कर्म को समझ कर उसका अनुष्ठान करने लगेगी उसी समय भारत में स्वराज्य या रामराज्य हो जावेगा।

(८) गोल्ड स्मिथ से जब प्रश्न किया गया कि यदि दूसरा मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन न करे, तब हमको क्या करना चाहिये तो उसने उत्तर कहा—

"The ingratitude of the world can never deprive us of the conscious happiness of having acted with humanity ourselves !"

संसार के लोगों की कृतघ्नता हमको अपनी अनुभूत प्रसन्नता से वञ्चित नहीं कर सकती जो कि हमने मनुष्यमात्र

के साथ कर्त्तव्य पालन से प्राप्त की है।

(६) फ्रांस के महान् पुरुष रूसो ने कहा है कि जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भली भांति पालन करने की शिक्षा पा चुका है, वह मनुष्य मात्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कार्य को उत्तम प्रकार से करेगा।

कर्तव्य-पालन-परायणता के जीवन से जो शारीरिक और मानसिक तथा आत्मिक शक्तियां अर्थात् कार्य सम्पादन में उत्साह, निर्भयता, प्रसन्नता मिलती है वह किसी अन्य प्रकार से नहीं मिल सकती। इससे मनुष्य सुख की निद्रा सोता है। यह प्रत्येक का दैनिक अनुभव है। इससे विपरीत जो कर्त्तव्य को जानता है और उसका पालन नहीं करता वह आत्महनन के पाप का भागी होता है। जो कि एक महान् पाप है, उसके परिणाम रूप वह पशुयोनियों को प्राप्त होता है। जैसे कि ईशोपनिषद् का वचन है।

असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जो आत्महत्यारे मनुष्य हैं, वे मर कर पशुयोनियों को प्राप्त होते हैं।

(१०) प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक विक्टर ह्युगो इसी अवस्था के लिये लिखते हैं कि—

To live a life which is a perpetual falsehood is to suffer unknown tortures.

निरन्तर आत्महनन का जीवन एक अज्ञात तौर पर

वेदना (पीड़ा) सहने का जीवन है जब अर्जुन युद्धविमुख होने लगा और धनुष छोड़ कर वैठ गया तब श्रीकृष्ण ने उसको यही उपदेश दिया था।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन ॥

हे अर्जुन ! तू आर्य है। यह कर्त्तव्य पालन न करना अनार्यपन है। जिसका फल नरक और अपयश होगा। कर्त्तव्य पालन से ही तेरा यश होगा, और स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होगा इस लिये अनार्यपन को छोड़ कर उठ और युद्ध कर।

इन उपरलिखित प्रमाणों में यह सिद्ध होता है, कि जो कर्तव्य को ठीक समझ कर पालन करे वही आर्य कहला सकता है और जहाँ आर्यों का समाज होगा वहाँ पर अवश्य प्रेम होगा और सुख शान्ति का साम्राज्य होगा। इस लिये सुख और आनन्द तथा आर्यपन कर्त्तव्य पालन में है। कर्त्तव्य पालन से ही जीव ब्रह्म की एकता हो जाती है। इस लिये प्रभु भक्ति का भी यह सरल साधन है। जैसे आगे लिखी कथा से स्पष्ट हो जावेगा। रेलवे कम्पनी का एक टिकिट चैक करने वाला बाबू बावर्दी गाड़ी के यात्रियों के टिकट चैक करता है, कोई यात्री बिना टिकट यात्रा कर रहा है। उसको गाड़ी से उतारने तथा उससे किराया वसूल करने का बाबू को पूर्ण अधिकार है। यदि वह यात्री गाड़ी से न उतरे और न किराया ही दे और उसके साथ लड़ाई करे,

मारे या अपशब्द कहे, या उसकी वर्दी के किसी कपड़े को फाड़दे तो उस यात्री को पुलिस के सुपुर्द कर दिया जाता है। उस पर मुकद्दमा चलता है, उसको दण्ड मिलता है। यदि वह यात्री यह कहे कि यह गाड़ी रेलवे कम्पनी की है और रेलवे का बाबू मेरे मुकाबले पर एक साधारण व्यक्ति है, और मैं एक विद्वान् तथा धनी शासक हूँ। मुझ से रेलवे कम्पनी ही किराया तलब करे तो दूँगा। तो उस यात्री का कथन स्टेशनमास्टर या अदालत का न्यायाधीश नहीं सुनेगा। क्योंकि जब एक रेलवे का साधारण कर्मचारी कम्पनी की आज्ञानुसार अपना कर्त्तव्य ठीक पालन कर रहा है अर्थात् वह जब तक कर्त्तव्य कर्म पर आरूढ़ (On Duty) है, उतने समय के लिए रेलवे कम्पनी और उसके कर्मचारी में कोई भेद नहीं है क्योंकि उस कर्म में दोनों की एक सम्मति है इस लिए वे दोनों एक ही हैं। रेलवे कम्पनी के कर्मचारी की आज्ञा का ही भंग करना या उसको कष्ट देना कम्पनी की आज्ञा का ही भंग करना है। ऐसे मुकद्दमे में कोई मुद्दई भी गवर्मैंण्ट ही होगी। रेलवे का बाबू मुद्दई नहीं होगा। रेलवे के बाबू की आज्ञा मानना या उसको किराया देना, रेलवे कम्पनी या सरकार की आज्ञा मानना और गवर्मैंण्ट के खज़ाना में रुपया दाखिल करना एक ही बात है। ऐसे ही जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन ईश्वराज्ञानुसार करता है तो उस समय जीव तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं रहता और जो व्यक्ति

प्रत्येक समय ऐसा ही करता है वही मनुष्य ईश्वर का भक्त या पुत्र कहलाने योग्य है और यही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। परन्तु जब वही रेलवे का बाबू किसी यात्री से ४) रुपये लेकर उसको तो ४) रुपये की ही रसीद देता है, परन्तु अपनी रसीद बही पर २) दर्ज करता है और किसी प्रकार पकड़ा जाता है। तो उसी समय रेलवे के बाबू को हथकड़ी लग जाती है और कम्पनी उस पर मुकदमा चलाकर उसी मुकदमे में मुद्दई हो कर उसको दण्ड दिलवाती है और अपने पद से मोकूफ कर देती है। इस दृष्टान्त से पता लगता है कि जब तक जीव ईश्वर की आज्ञानुसार कर्म करता है, जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता क्योंकि कर्त्तव्य पालन करने से व्यक्ति को संसार से फंसावट नहीं होती। वह सदा ईश्वर का ही बना रहता है और यही ईश्वर भक्ति है।

कर्त्तव्य पालन से बेकारी का हल भी होता है और सांसारिक व्यवहार में जीविका कमाने अर्थात् धन सम्पति या शासन अधिकार प्राप्त करने में भी कर्त्तव्य पालन करने वाला ही उन्नति को प्राप्त होता है; भारतवर्ष में तो बहुत सी बेकारी इसी कारण से है। आज कल के बहुत से लिखे पढ़े नवयुवक भी इसीलिए बेकार हैं कि प्रथम तो अपना कर्त्तव्य कर्म जानते ही नहीं और यदि जानते भी हैं तो उपरलिखित रेलवे के बाबू के दृष्टान्त के अनुसार अत्यन्त लोभवश या आलस्य अथवा आरामतलबी के कारण उसका उचित रीति

से पालन न कर किसी कार्य में सफल मनोरथ नहीं होते। इधर उधर भटकते फिरते हैं। एक स्थान पर या एक कार्य पर नहीं ठहरते, बदनाम होकर निकाले जाते हैं। परन्तु जो कर्त्तव्य का पालन करना जानता है वह साधारण अवस्था से बहुत ऊंचा उठ जाता है। और किसी छोटे से छोटे कार्य में भी असफल नहीं होता और बदनाम होकर नहीं निकाला जाता। अपितु जिसके पास वह जाता है वही उसको अपने कार्य के लिये एक लाभदायक हाथ समझता है और उसको छोड़ना नहीं चाहता। इसलिये बेकारी उसके समीप नहीं फटकती। जैसे एक निम्नलिखित सच्चे दृष्टान्त से पता लगेगा।

गुरुकुल काङ्गड़ी का एक स्नातक, सम्भव है जिसका नाम प्रह्लाद था, बहुत दिनों तक कार्य न मिलने के कारण बेकार रहा। मांग कर खाना या किसी पर अपना बोझ डालना उसने अच्छा नहीं समझा। और एक दिन कार्य की खोज में निकल पड़ा और निश्चय कर लिया कि जो भी कार्य मिल जावेगा उसे ही करूंगा। इसी विचार से एक सेठ जी की कोठी पर गया और सेठ जी से निवेदन किया कि मुझे कोई कार्य दें, मैं मांग कर खाना नहीं चाहता। सेठ जी ने कहा रसोई में एक बर्तन साफ करने वाले की आवश्यकता है, यही कार्य आपको इस समय दिया जा सकता है।

नवयुवक प्रह्लाद ने यही कार्य करना स्वीकार कर लिया परन्तु सेठ जी को यह नहीं बताया कि मैं पठित हूँ और

गुरुकुल का स्नातक हूँ। प्रह्लाद ने बरतन साफ करने का कार्य बहुत अच्छी प्रकार से किया। चूंकि उसे इस कार्य का अभ्यास न था, प्रथम कुछ कष्ट हुआ, परिणामस्वरूप हाथों में छाले तक भी पड़े। परन्तु कुछ काल पश्चात् कोई कष्ट न रहा। परन्तु बर्तन ऐसे प्रेम से दिल लगाकर साफ करता था कि इससे पूर्व किसी नौकर ने ऐसे साफ नहीं किये थे। सेठ जी की धर्मपत्नी प्रह्लाद के कार्य से अत्यन्त प्रसन्न थी। प्रह्लाद का स्वभाव भी बहुत नम्र था। प्रह्लाद ने अपने कर्तव्य से कभी कोताही नहीं की और ना ही कभी कोई शिकायत ही की कि पढ़ा लिखा होकर यह कार्य मुझे नहीं करना चाहिये था। यह कार्य मेरे योग्य नहीं है। इसी प्रकार लगभग ६ मास बीत गये। इतने में सेठ जी किसी कार्यवश किसी दूसरे शहर को चले गये। सेठ जी का एक पुराना मुनीम था, वह भी किसी कार्य वश बाहर चला गया था। उसी दिन सेठ जी का एक तार कहीं से आया। सेठ जी की धर्मपत्नी तार लेकर हैरान बैठी थी कि यह तार किस से पढ़वाऊं। मुनीम जी भी यहां पर नहीं हैं, यदि किसी दूसरे से पढ़वायें तो शायद किसी काम काज का भेद हो और दूसरे पढ़ने वाले पर भेद खुल जावे और सेठ जी अप्रसन्न हों। और फिर तार का उत्तर भी तो लिखवाना होगा। इस हैरानगी का कारण प्रह्लाद ने सेठानी जी से पूछा तो सेठानी जी ने ठीक २ बात उसको कह दी। क्योंकि वह प्रह्लाद को प्रत्येक प्रकार से विश्वासपात्र समझती

थी, प्रह्लाद ने कहा यदि आपको विश्वास हो तो तार तो मैं पढ़ देता हूँ। सेठानी जी ने कहा क्या तू पढ़ा लिखा है? प्रह्लाद ने कहा हाँ कुछ पढ़ा हूँ। सेठानी जी ने तार प्रह्लाद के हाथ में दे दी और प्रह्लाद ने तार पढ़ कर अभिप्राय सुना दिया। अब सेठानी जी ने कहा, तार का उत्तर किस से लिखवाया जावे। प्रह्लाद ने कहा, बताइए, मैं तार का उत्तर लिखकर तारघर में दे आऊंगा। सेठानी यह सुन कर हैरान हुई और कहा कि यह पढ़ लिखकर बर्तन साफ करता है। अन्त में प्रह्लाद ने तार का उत्तर लिख दिया और उसको तारघर में भी दे आया।

कुछ दिन पश्चात् जब सेठ जी वापिस घर आये तो सेठानी जी से पूछा कि मुनीम जी तो यहां पर नहीं थे, तार किस से पढ़वाया और लिखवाया था।

सेठानी जी ने उत्तर दिया—कि यह कार्य प्रह्लाद ने किया है। परन्तु अब इससे बर्तन साफ नहीं करवाने चाहियें। सेठ जी तो पहिले ही प्रह्लाद के कार्य से प्रसन्न थे। अब यह पता लग जाने पर कि यह नवयुवक अच्छा पठित है और गुरुकुल का स्नातक है और प्रत्येक प्रकार से विश्वासपात्र है। इसलिये उसको अपनी कोठी के कार्य में ले लिया, और कुछ समय पश्चात् उस प्रह्लाद को मुनीम का पद मिल गया। और अब वही एक प्रकार से उस कोठी का मालिक समझा जाने लगा। यह फल अपने कर्त्तव्य जानने का और ठीक

पालन करने का है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाठकों को प्रत्येक कार्यक्षेत्र में दृष्टिगोचर हो सकेंगे, कि एक कर्त्तव्य पालन करने वाला साधारण अवस्था से उठकर सेनापति, न्यायाधीश या जाति का नेता बन जाया करता है और कर्तव्य को समय पर न समझने वाला और न पालन करने वाला उच्चपद से नीचे गिर जाता है राज्य ऐश्वर्य को खो बैठता है। और धनी होकर दरिद्र हो जाता है। इसलिए कर्त्तव्य पालन एक संजीवनी बूटी है। शर्त यह है कि हमारे नवयुवक इसको समझें और इसके अनुसार कर्म करें यही असली धर्म है।

[२]

मनुष्य जन्म की विशेषता

यह मनुष्य जन्म मिला ही शिक्षा और परीक्षा के लिये है। जिससे मनुष्य अपने ऋण को ठीक जान कर वह अपने ऋण को चुका सके, अर्थात् अपने कर्तव्य कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके उनका ठीक पालन करके देवपद को प्राप्त कर सके। क्योंकि जन्म से सब मनुष्यों की संज्ञा पशु समान है। पशु अपने ऋणों को अर्थात् कर्तव्य कर्मों को नहीं जान सकता और उनका ठीक पालन करके अपने आप उत्तम पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि पशु पक्षी भोग योनि में हैं। वह एक ऐसे जेलखाने में हैं, जहां कैदी को जेल के अफ़सर की आज्ञानुसार ही खाना पीना, सोना और जागना अर्थात् प्रत्येक कार्य करना पड़ता है। जेल का क़ैदी अपने परिवार या सम्बन्धी की सेवा नहीं कर सकता। और जब वह दो चार साल पश्चात्

जेल से बाहर आवेगा तब वह अपने लिये या अपने परिवार के लिये कुछ कमाई करके साथ नहीं लाता क्योंकि पशु कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है।

ऐसे ही पशु अपनी खुराक के विषय में स्वयं कुछ नहीं सोच सकता। पशु को घास खाने के कारण जिस खेत में अभी मार पड़ी थी वह फिर उसी खेत में घास खाने के लिये चला जाता है अर्थात् न अपने कर्तव्य कर्म को जानता है और न कर सकता है। परन्तु मनुष्य योनि इस प्रकार की नहीं है। मनुष्य ने जिससे ऋण लिया अथवा जिसका वह कृतज्ञ है उसके प्रति अपने कर्तव्य को जानता है। किसी से शिक्षा ले सकता है और उसका पालन करके ऋण से मुक्त हो सुख प्राप्त कर सकता है। समय आने पर परीक्षा देकर उसमें उत्तीर्ण भी हो सकता है। और उस आनन्द को प्राप्त कर सकता है जो आत्मप्रसाद का फल है, किन्तु सेवा करके इसी जन्म में दूसरों पर ऋण चढ़ा भी सकता है। अर्थात् आगामी जीवन के लिये कुछ कमाई एकत्रित करके प्रत्येक प्रकार से प्रसन्न भी हो सकता है। परन्तु पशु यह कार्य नहीं कर सकता और न यह आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसलिये जो मनुष्य इस उत्तम योनि को प्राप्त करके अपने ऋणों के जानने का यत्न नहीं करता अर्थात् कर्म करने की विद्या को जानने का यत्न नहीं करता और न उसको प्राप्त ही करता है उसकी शकल यद्यपि मनुष्य जैसी है परन्तु

वास्तव में वह पशु ही है। ऐसा मनुष्य वास्तविक ज्ञान को नहीं जानता। इस लिये पशुसमान अज्ञान के फल दुःख वा परतन्त्रता से भी नहीं बच सकता। इसलिए मनुष्य जन्म प्राप्त करने वाले प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिये आवश्वक है, कि वह कर्त्तव्य कर्म या धर्म-कर्मों को जानने का यत्न करे। इस शिक्षा को प्राप्त करके परीक्षा देखकर जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका है वही माता पिता तथा गुरु यह जान सकता है कि उसकी सन्तान तथा शिष्य पशु योनि में तो नहीं जा रहे हैं। और ऐसे ही ज्ञानी माता पिना और गुरु ही जहां अपने को पशु योनि में जाने से बचा सकते हैं। वहां सन्तान तथा शिष्य को भी शिक्षा देकर और वैसे कर्म में नियुक्त कर ननुष्य और देवता बना सकते हैं। और यदि माता-पिता तथा गुरु की उदासीनता से इस विद्या को न जानने के कारण, एक मनुष्य जन्म जैसी उत्तम पदवी को प्राप्त होकर कोई बच्चा नीचे को गिरता है अर्थात् पशुयोनि में जाता है तो इस दण्ड के भागी माता पिता और गुरु तथा राजा भी होंगे, जिनकी उदासीनता के कारण यह विद्या नहीं दी गई।

सारे संसार में आज कल के दुःखों और अशान्ति तथा लड़ाई झगड़ों का मूल कारण यही कर्त्तव्य का न जानना और धर्म को न पहचानना यह अज्ञान ही है। ऋषि पतञ्जलि योग दर्शन में योग का फल प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

(ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा) योग करने से ही ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा उस ईश्वरीय या दैवी बुद्धि को कहते है, जिस में अज्ञान की भावना तक नहीं रहती।

अर्थात् जो कुछ मनुष्य सोचता बोलता और करता है, वह सब कल्याण कारक ही होता है। परन्तु जो मनुष्य ऋणी है और आगे भी ऋण उठाता चला जाता है उसकी बुद्धि पर तो मलसंचय होना ही है। इसलिये ईश्वरीय या दैवी बुद्धि प्राप्त करना अथवा योग की सफलता भी कर्त्तव्य कर्म के करने में ही है, जो कि मनुष्य योनि में ही प्राप्त हो सकती है। अर्थात् मनुष्य अपने मन अथवा बुद्धि को इस जन्म में ही मलिन करके (प्रति दिन मलिन कपड़े को धोने के समान) कर्त्तव्य पालन करके पवित्र भी कर सकता है, और सदा प्रकाश में रह सकता है। और वास्तव में कर्त्तव्य कर्म को शास्त्रों में तप कहा गया है जैसे कि निम्नलिखित दृष्टान्त इसको स्पष्ट करता है। यह समाचार महात्मा गांधी के 'हरिजन पत्र' तिथि अक्टूबर १६४० में प्रकाशित हुआ है। एक नवयुवक रात्रि के समय अपने नगर के रेलवे स्टेशन पर उतरा। रात्रि अन्धेरी थी। स्टेशन पर केवल एक ही टांगा था। नवयुबक के पास विस्तरादि कुछ सामान भी था। टांगे वाले ने नगर तक जाने के लिये नवयुवक से १) रु० मांगा। यद्यपि साधारण अवस्था में पूरे टांगे का ६ आने या ८ आने से अधिक किराया नहीं था। परन्तु समय का रंग ढंग देखकर

नवयुवक ने १४ आने देने स्वीकार कर लिये।

जब टांगा नवयुवक के घर पहुँचा, और सामान उतार लिया गया, तब नवयुवक के बड़े भाई ने जो कि नगर का धनी तथा बड़ा व्यापारी था, नवयुवक से पूछा कि टांगा वाले को क्या देना है। नवयुवक ने कहा कि समय को देखकर १४ आने देने स्वीकार किये थे। तो बड़े भाई ने कहा कि क्या लूट पड़ी है, दुगुने पैसे? अच्छा तुम बैठो टांगे वाले से मैं ही फैसला करूँगा। तब सेठ जी ने टांगे वाले को धमकाया कि तुम लोग यात्रियों को लूटना चाहते हो। हम ८ आने से अधिक कदापि नहीं देंगे। टांगे वाले ने भी आगे से दो चार सुनाई कि आप धनी लोग बड़े ही ज़बान के झूठे होते हैं। दो चार आनों के लिये झूठ बोलते ज़रा भी लज्जा नहीं करते, मैं कम नहीं लूँगा। इस प्रसङ्ग में एक दूसरे के लिये प्रयाप्त कटुवचनों का भी प्रयोग हुआ। आखिरकार टांगे वाले ने कहा जब आप लोग नगर से स्टेशन तक जाते हैं और किसी टांगे वाले से चार आने या ५ आने पूरे टांगे के करके ले जाते हैं, जो सरकार के दर से कम होता है, तो क्या टांगे वाला स्टेशन पर जाकर अधिक मांगता है? या अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करता है? हम गरीब आदमी अपनी जबान नहीं बदलते और नाहीं उस समय पुलिस में रिपोर्ट करते हैं, कि हमें पूरा निरख दिलाया जावे। परन्तु आप धनी लोग दो चार आनों के लिये अपनी प्रतीज्ञा को भङ्ग

करते हैं और गरीबों का पैसा खाते हैं। अन्त में सेठ जी ने बहुत देर तक कुछ नहीं दिया और तो टांगे वाले ने तंग आकर कहा, कि जो खुशी हो दे दो, मैं तमाम रात यहां पर बैठा नहीं रहूंगा। तब सेठ जी ने टांगे वाले को १० आने दिये और वह चला गया।

नवयुवक ये सब बातें सुन रहा था। टांगे वाले के चले जाने पर अपने बड़े भाई सेठ जी को समझाया कि मैंने प्रतीज्ञा की थी कि मैं तुमको १४ आने दूँगा। और जो यह बात टांगे वाले ने कही थी कि जब हम नगर से स्टेशन जाने के समय निश्चित किराये से कम देना स्वीकार करके किसी टांगे वाले को ले जाते हैं तो टांगे वाला अधिक किराये के लिये झगड़ा नहीं करता और न अपनी प्रतिज्ञा ही बदलता है। यह बात उस ने बिलकुल ठीक कही थी। लेकिन हम लोग धनी होकर भी अपने व्यवहार में एक टांगे वाले से गिर जाते हैं, क्या यह अच्छी बात है ? कि ४ आने के लिए अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करें और दूसरों का हक़ खाकर आत्महनन पाप के भागी बनें।

नवयुवक के इस प्रकार शान्ति से समझाने पर बड़े भाई सेठ जी को भी यह आत्म-हनन और प्रतिज्ञा भङ्ग के पाप कर्म की बात समझ में आगई, और कहने लगे कि हमने गलती ही की है। अच्छा कल टांगे वाले को चार आने दे देंगे। इस प्रकार दोनों भाइयों ने सारी रात पश्चाताप करते हुए

कांटी। प्रातः काल उठकर टांगे वाले की खोज की परन्तु वह नहीं मिला।

इस प्रकार खोज करने पर दो तीन दिन के पश्चात् मिला। सेठ जी ने उसको घर चलने के लिये कहा जिससे छोटे भाई के सामने उस से क्षमा मांग कर उसको चार आज दिये जावें। परन्तु टांगे वाला उनके घर जाना न चाहता था, वह डरता था कि कहीं किसी झगड़े में न फंसादें और मेरे उस दिन के तकरार का बदला पुलिस द्वारा या और प्रकार से न लें। उसको सेठ जी की बात पर बिश्वास न आता था। आखिर कार सेठ जी उसको समझा बुझा कर अपने घर पर ले गये। जहां पर दोनों भाईयों ने उस से क्षमा मांगी और चार आने भी दे दिये और इस प्रकार अपने चरित्र रूप कपड़े पर जो धब्बा स्वयं ही लगाया था, उसको ५ दिन पश्चात् धो लिया।

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि चूंकि मनुष्य का ज्ञान अल्प है, लोभादि के दाग़ प्रतिदिन उसके चरित्र पर पड़ने की सम्मभाना बनी रहती है। और इसी प्रकार प्रति दिन कितने ही ऋण उसके सिर चढ़ जाते हैं। परन्तु कर्तव्य कर्म को जानने और पालन करने वाला मनुष्य प्रथम तो किसी का ऋण अपने ऊपर चढ़ने ही नहीं देता, संसार के प्रलोभन रूप धब्बों से बच कर रहता है। परन्तु किसी समय अपनी अल्पज्ञता के कारण कोई धब्बा पड़ भी जावे तो उसको तत्तकाल धोकर अपनी आत्मा

को सदा प्रसन्न रखता है जो कि पशु नहीं कर सकता। इस लिये प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह अपने कर्तव्य कर्मों के ज्ञान को प्राप्त करके सदा प्रकाश में रहते हुए अपने मनुष्यत्व को स्थिर रक्खे और देवत्य को प्राप्त करे जो कि इसका जन्म सिद्ध अधिकार और अन्तिम लक्ष्य है।

कारण और कार्य का सिद्धांत

संसार में एक अटल सिद्धांत कारण और कार्य (Cause and effect) का है। जिसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता और न आज तक कर सका है। अर्थात् जैसा बीज वैसा ही फल। इसलिये प्रत्येक मनुष्य चाहे वह राजा हो या रंक, विद्वान् हो या मूर्ख, धनी हो या निर्धन, इस सिद्धांत के फल से बच नहीं सकता। इसलिये जिसने किसी का हक़ खाया है अथवा अनधिकार चेष्टा भी की है, उसको वह ऋण चुकाना ही होगा। चाहे कोई पुत्र की शकल में आकर ले जावे या किसी को दिला जावे। पशु बन कर आवे और कुछ सेवा कराकर या धन खर्च करवा कर चल बसे। अथवा रोगादि की शकल में आवे। परन्तु जैसा कोई बीजता है वैसा ही समय आने पर काटता है। "As you sow so you reap" जैसा बोओगे वैसा पाओगे। जैसे २ कर्म अच्छे या बुरे होंगे

नियमानुसार और समय पर (जैसे बनस्पति वृक्षादि सृष्टि नियमानुसार फल देते हैं) वैसे ही वे कर्म अपना २ फल देते हैं। इस में भूल नहीं हो सकती। उस सिद्धांत को भी मनुष्य ही जान सकता है, और अपने जीवन को कर्त्तव्य का पालन करके उत्तम वना सकता है। पशु इस सिद्धांत को न जानते हैं और न इस सिद्धांत से काम ले सकते हैं।

इस लिये जो स्त्री-पुरुष मनुष्य-जन्म में आकर अपने कर्त्तव्यकर्म या ऋणों को नहीं जानता, वह उनको चुका भी नहीं सकता। इसलिये वह मनुष्य होते हुए भी पशुवत् भोग योनि में जीवन व्यतीत करता है। और इसलिये जेल-खाने के दुःखों से तथा परतन्त्रता से बच नहीं सकता और जिस जाति या देश में ऐसे मनुष्यों की अधिकता है वहां स्वराज्य कदापि नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य के सिर पर कौन से कर्तव्य कर्म हैं अथवा ऋण हैं जिनको पालन कर या चुका कर वह इस संसार रूपी महासागर से उत्तीर्ण हो सकता है। अर्थात् जन्म मरण के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अथवा इसी संसार में रहते हुए भी सच्चे सुख के आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकता है। जिससे प्रत्येक आश्रम में वह सफल-जीवन हो।

हमें जानना चाहिए कि प्रत्येक आश्रम के कर्तव्य धर्म कौन से हैं जिनके प्रतिदिन पालन करने से मनुष्य उत्तम बन कर ऊपर उठता जावे और एक दिन अपने अन्तिम ध्येय को प्राप्त करले।

यहां पर यह लिखना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऋण वही नहीं होता जिसको कोई मांगने आवे और हमारे से झगड़ा करे या अदालत में नालिश करे अथवा डिगरी करे या वारण्ट गिरफतारी लावे, परन्तु बहुत से ऋण ऐसे है जिनको मांगने वाला कभी भी नहीं आता परन्तु वे सूद दर सूद के हिसाब से बराबर पढ़ते जाते है जैसे वहुत दिन के मैले वस्त्र को धोबी गर्म भट्टी पर चढ़ाता और फिर जोर से पटड़े पर मारता है, वैसे एक दिन वे ऋण बिना लिहाज बढ़ी सख्ती से वसूल किये जाते हैं। इस लिये ऐसे ऋण सर्वप्रथम और प्रतिदिन चुकाये जाने चाहियें। जिससे वे बढ़ने ही न पावें। और मनुष्य सदा स्वच्छ पवित्र शरीर वा कपड़े पहनने की भांति आत्मपवित्रता के आनन्द को भी भोगने का अधिकारी बन सके।

आत्मानन्द के लेने वाले अनुभवी ऋषियों ने मोटे २ तीन ऋण लिखे हैं। जिनका चुकाना प्रत्येक मनुष्य मात्र का धर्म है। शेष छोटे २ कर्तव्य या ऋण इन के अन्दर ही आ जाते हैं।

१. देव ऋण, २. ऋषि ऋण, ३. पितृ ऋण। मनुष्य के जिम्मे यदि कुछ ऋण ही न होते तो उसका जन्म होना ही असम्भव था। क्योंकि इस जीवात्मा का इस मनुष्य योनि के बन्धन अर्थात् जेल खाने में आना ही बतला रहा है कि गर्भ का दुःख और फिर जन्म लेकर शरीर धारण करने के कारण

जो अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, उनके बीजरूप कुछ कर्म या ऋण हैं जिनके फल भोग के लिये यह शरीर जीव को मिला है। यद्यपि यह जेलखाना विशेष श्रेणी का है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के जन्म धारण करते ही उसके ऊपर और अनेक ऋण चढ़ने आरम्भ हो जाते हैं। जैसा माता, पिता भाई, बहिन आदि संबन्धियों का, जो उसके पालन पोषण में सहायक होते हैं। इस प्रकार जल, वायु, पृथिवी, अन्नादि, का ऋण जिस से इसका शरीर बनता है। उस नगर या देश का ऋण जहां की जल वायु मिट्टी आदि से उसका शरीर बना है। इसी प्रकार सहवासियों का, पूर्वजों की संस्कृति का, और गुरुजनों का जिनके द्वारा उसने शिक्षा प्राप्त की है। गौं आदि पशुओं का तथा ग्वाला, धोबी, नाई, अथवा भङ्गी आदि सेवकों को जो उसकी रक्षा तथा पालन पोषण में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वर्तमान गवर्मैण्ट का जिसकी रक्षा के द्वारा मनुष्य का जीवन का सुख पूर्वक व्यतीत होता है।

इन सब के अतिरिक्त उस सृष्टि रचयिता जगन्माता का ऋण जिसने यह सब संसार और उसके पदार्थ और वेदरूप-ज्ञान मनुष्य के सुख भोग के लिये था कर्तव्य पालन के लिये साधन रूप में इस शरीर सहित दिये हैं और फिर अपनी शरीर रुपी गाड़ी के प्रति और अपने प्रति क्या कर्तव्य हैं!

इनका वर्णन उपरिलिखित तीनों ऋणों में आजाता है। इनका यथाशक्ति व्याख्यान करना और उनके पालन करने की विधि

बतलाना ही इस पुस्तक के लिखने का लक्ष्य है। क्योंकि जब तक मनुष्य इन ऋणों से मुक्त नहीं होता, चाहे इस कार्य में जीव को एक नहीं अनेक तथा लाख जन्म भी लेने पड़े तब तक जन्म-मरण के बन्धन से छूट नहीं सकता और न अपने अन्तिम ध्येय मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इसके बिना अन्य कोई सरल या निकट का मार्ग नहीं है। और यह ऐसे हो ठीक है जैसे दो और दो, चार होते हैं। इसी को धर्म का पालन करना कहते हैं।

आजकल के स्त्री पुरुषों को जो कि पश्चिमीय सभ्यता में पले तथा पढ़े हैं, यज्ञोपवीत की महत्ता का पता नहीं है। वास्तव में जनेऊ धारण करने का तात्पर्य यही है कि जनेऊ के तीन तारों द्वारा इन तीन ऋणों की स्मृति प्रत्येक स्त्री पुरुष को बनी रहे और वे प्रत्येक समय इन ऋणों से उऋण होने का ध्यान रक्खें। जैसे कि युनिवर्सिटी के ग्रेजुएट तथा गुरुकुल के स्नातक और बैरिस्टर वा न्यायाधीश आदि अपना निश्चित वेश धारण करते हैं। अथवा कांग्रेस या जातिसभाओं के स्वयंसेवक अपने अपने बैज या पेटी अथवा चपरास इसलिये पहिनते हैं कि उनको अपनी प्रतिज्ञाओं का स्मरण रहे, जो कि गौन या पेटी पहनने के समय युनिवर्सिटी के चान्सलर गुरु या नेता ने बतलाई थीं, और जिनका पालन करना उनका मुख्य कर्तव्य है, और जिनके पालन में ही उनका गौरव तथा मान है। ऐसे ही जनेऊ पहनाने का उद्देश्य इन ऊपर लिखे

तीनों ऋणों या कर्तव्यों का प्रत्येक समय स्मरण करना है। जिनके पालन करने में ही मनुष्य जीवन का मान तथा मूल्य है। परन्तु आजकल हम गर्म सर्द वर्दी, गौन, पेटी या बैज तो पहन सकते हैं और उनका कुछ लाभ भी समझते हैं। परन्तु जनेऊ के पहनने में हमको कष्ट होता है। और जनेऊ पहनना अनावश्यक समझा जाता है। इसका कारण हमारी अज्ञानता ही तो है। क्योंकि इस विषय में न तो हमको ज्ञान दिया गया और न हमने स्वयं उस पर यथार्थ विचार किया। इसका मुख्य कारण तो यही है कि आज कल की दुनियां में हम लोग अपने कर्तव्य कर्मों की तरफ ध्यान देना आवश्यक ही नहीं समझते, परन्तु सुख और दीर्घ आयु तथा मुक्ति भी चाहते हैं; परन्तु सस्ती, जो कि असम्भव है।

संस्कृत के किसी कवि ने जैसा इस श्लोक में कहा है, यही दशा हमारी है।

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति जन्तवः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

इसका अर्थ है कि मनुष्यों का यह स्वभाव ही बन गया है कि वे पुण्य का फल जो सुख है उसको तो चाहते हैं। परन्तु उसके कारण पुण्य कर्म को करना नहीं चाहते। इसी प्रकार मनुष्य दुःख को तो नहीं चाहते परन्तु दुःख का कारण जो पाप है उसको बलपूर्वक करते हैं। मनुष्य के करने योग्य कर्तव्य कर्म तो अनेक हैं। इन सबका वर्णन और व्याख्यान

करना तो बहुत कठिन कार्य है। यहां मोटे २ कर्तव्य कर्मों अथवा धर्म के अङ्गों पर प्रकाश डालने का यत्न किया जावेगा। जिससे साधारण जनता भी इनको जानकर इनका पालन कर मनुष्य जन्म के लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

जब तक यह निश्चय न हो कि कर्तव्य तथा अकर्त्तव्य कर्म कौन से हैं, अथवा यह पता न लगे कि पाप क्या है और पुण्य क्या है, तब तक मनुष्य पाप कर्मों को कैसे छोड़े और आगे के लिये ऋण के भार से कैसे बचे ? और एक साधारण व्यक्ति के लिये यह विवेक कर लेना भी कठिन कार्य है। क्योंकि सांसारिक व्यवहार में वही वस्तु अथवा कार्य जो एक समय पर पुण्य और लाभदायक प्रतीत होता है, वही वस्तु या कार्य दूसरे समय में दुःखदायक पाप या अकर्त्तव्य हो जाता है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिये कर्तव्य वा पुण्य है वही दूसरे के लिये अकर्त्तव्य और पाप बन जाता है। इसलिए जब तक मनुष्य का लक्ष्य केवल संसार और उसके पदार्थों की प्राप्ति है, मनुष्य मात्र के लिये सदा के लिये स्थिर निश्चय कर लेना कि किस काम को मनुष्य करें और किस काम को छोड़ देवें, कौन काम अच्छा है और कौन बुरा है, किस वस्तु को मनुष्य ग्रहण करे अर्थात् खाये पीये और पहिने अथवा किस से प्रेम करे वा न करे, असम्भव है। क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु परिणामशील और नाशवान् है। इसलिये किसी अस्थिर लक्ष्य को सामने रखकर स्थिर निश्चय करना असम्भव है।

क्योंकि सांसारिक लक्ष्य बदलता रहता है, इसलिए कर्म भी बदलता रहता है।

प्रकृतिवादी लोग जिनको केवल इस संसार से प्रेम है और इसकी प्राप्ति ही उनके जीवन का लक्ष्य है। ऐसे लोगों के लिये जो बात आज न्याय और सत्य है; वही कल अन्याय और असत्य तथा दण्डनीय हो जाती है। और उनके कानून के फैसले और दण्ड भी बदलते रहते हैं। ऐसी अवस्था में किसी समय सत्य का प्रकट करना अच्छा, और किसी समय सत्य का प्रकट करना ही दण्डनीय हो जाता है। संसार का राग अनुराग भी बदलता रहता है। जिस वस्तु के खाने से किसी को सुख मिलता है, उसके लिये वही वस्तु प्राप्तव्य है। दूसरे के लिये वही त्याज्य हो जाती है। जिसको आज मित्र कहते हैं, कल वही अमित्रता प्रकट करता है। सासारिक बन्धुओं, माता, पिता पुत्रादि से भी कभी कभी उलटा व्यवहार दृष्टिगोचर होता है।

एक समय एक दुकानदार एक रुपये की वस्तु को सवा रुपये में बेचता है, तो प्रतीत होता है यह बड़ा पापी है और बहुत लूटता है। परन्तु लड़ाई और जङ्ग के समय जब वही वस्तु ४) रुपये में मिलती है तो भी अन्याय नहीं गिना जाता। सांसारिक सुख भी बदलता रहता है। जैसे निद्रा सुख का कारण है और सब के स्वास्थ्य के लिये परम आवश्यक है। परन्तु सांप के काटने पर अथवा संखिया खाने पर मनुष्य

की मृत्यु का कारण बन जाती है। भोजन खाना या मिठाई सुखदायी है परन्तु किसी अवस्था में वही भोजन और मिठाई मृत्यु का कारण हो जाते हैं। धन बड़ी उत्तम वस्तु है, उसका एकत्र करना सुख का कारण है। परन्तु इसी एकत्रित किये धन के कारण ही मनुष्य की जान खतरे में पड़ जाती है, और कभी कभी मृत्यु भी हो जाया करती है। धन का दान करना अच्छा कर्म है, परन्तु किसी समय यही दान हमारे लिये तथा जाति के लिये दुःख वा नाश का कारण बन जाता है। जैसा कि आजकल देखा जाता है।

वास्तव में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य और पाप पुण्य का ठीक निश्चय उसी समय हो सकता है, जब मनुष्य यह अनुभव कर लेता है कि इस संसार का कोई चेतन, सर्वशक्तिमान्, जीता जागता, ज्ञानवान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, स्वामी: और नियन्ता है। और यह सृष्टि उसकी है, मेरी नहीं। दूसरी बात यह है कि वह समस्त जीवों के कर्मों का फल देने वाला है और उसका कर्मफल सदा कल्याणकारी होता है। जैसे सांसारिक माता या वैद्य की कटु औषधि भी अमृत के तुल्य समझी जाती है। तीसरी बात यह है कि उसकी आज्ञा वा नियम को जान कर उसके अनुसार कर्म करना कर्त्तव्य या पुण्य है और उसके विपरीत जानना और कर्म करना ही अकर्त्तव्य या पाप है। इसलिये जो मनुष्य यह जानना चाहता है कि कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य क्या है, उसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि

पूर्व वह यह निश्चय करले कि इस जगत् का कोई स्वामी वा नियन्ता है। फिर उसकी आज्ञाओं तथा नियमों का ज्ञान प्राप्त करना और उनका पालन करना उसके लिये अनिवार्य हो जावेगा। और ऐसे कर्त्तव्य कर्मों के लिये ही वह प्रत्येक प्रकार के कष्ट सहन करता हुआ आनन्द अनुभव करेगा, इसी प्रकार एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेगा। जैसे जब तक एक कारखाने के अन्दर कार्य करने वालों को यह निश्चय न हो कि इस कारखाने में कार्य करने वालों के लिये कोई व्यवस्था है और उन नियमों के अनुकूल कार्य करने में हमारी वृद्धि और मान है, कारखाने के ठीक चलते रहने पर ही हमारी जीविका और कल्याण है तथा उन नियमों के विपरीत चलने से हमारी अवनति होगी और दण्डनीय भी होंगे; तब तक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्मों का निश्चय नहीं हो सकता।

———:०:———

[४]

प्रथम कर्तव्य—देवऋण

प्रथम कर्तव्य है "देवऋण"। इसलिये मनुष्य का सब से प्रथम और आवश्यक कर्त्तव्य या धर्म यह है कि उस जगत् के स्वामी सब देवों के देव व जगत् की माता को जानें जिसने यह सब सृष्टि रची है। फिर उसकी आज्ञाओं वा नियमों के जानने और पालन करने की ओर मनुष्य की रुचि अपने आप आकर्षित हो जावेगी, और यही ज्ञान प्राप्ति और उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना ईश्वर के प्रति भक्ति अथवा मनुष्य का ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य कर्म होगा। और इसी एक कर्त्तव्य कर्म के जान लेने पर मनुष्य को शेष सब कर्त्तव्य कर्मों के निश्चय करने की विवेक-बुद्धि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जितना कोई मनुष्य इस कर्त्तव्य कर्म की तरफ़ ध्यान देगा उतना ही वह ठीक जानेगा और ठीक करेगा। जिसका फल उसके लिये सदा सुखदायक होगा।

सृष्टि दो प्रकार की दृष्टिगोचर हो रही है। प्रथम जड़ या अचर जैसे पत्थर, मिट्टी, लोहा, सोना धातु और वृक्षादि हैं, जो कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वयं नहीं जा सकते। किन्तु ये सब अग्नि, वायु, पृथिवी, जल तथा आकाश इन पांच तत्त्वों के संयोग से ही बनते हैं और स्थूल अवस्था में ही हमको दृष्टिगोचर होते हैं। अपनी सूक्ष्म अवस्था में जिस समय जिनको परमाणु, Atoms वा Electron आदि कहा जाता है तब वे इन चर्म चक्षुओं से दृष्टि-गोचर नहीं होते परन्तु इन में गति या हरकत दृश्यमान है। और वे एक दूसरे से नियमानुसार निश्चित परिमाण में मिलते हैं। यह सिद्धान्त आज कल के योरोपीय वैज्ञानिकों का है। जिन में एक वैज्ञानिक का नाम Dr. Jin है। उसने अपनी पुस्तक The mysterious universe में ऐसा ही लिखा है। तो प्रश्न यह होता है कि इस नियमानुसार गति को देने वाला और निश्चित परिमाण में ही मिलाने वाला कौन है। उक्त डाक्टर जी कहते हैं कि इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखते हुए एक कवि ने कहा है कि—

हज़ार साइन्स रंग लाये, हज़ार बातें हम बनायें।
खुदा की कुदरत यही रहेगी, हमारी हैरत यही रहेगी ॥१॥
सदियों फिलासफों की, चुना चुनी रही।
लेकिन खुदा की बात, जहां थी वहीं रही ॥२॥

परन्तु यह स्वयंसिद्ध बात है कि यह कार्य बिना किसी चेतन ज्ञानवान् शक्ति के नहीं हो सकता जो कि इन परमाणुओं के अन्दर ही होनी चाहिये। क्योंकि सृष्टि बनते समय कोई वस्तु बाहर तो है ही नहीं जो इनको गति दे और निश्चित परिमाण में मिलावे। इसलिए वह शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म होती हुई जहां इन परमाणुओं के अन्दर है वहां सर्व व्यापक तथा चेतन और ज्ञानवान् भी है। क्योंकि ज्ञानपूर्वक या नियमपूर्वक जड़ परमाणुओं को गति देने वाली शक्ति चेतन अर्थात् जीती जागती होनी चाहिए। यह नियम संसार के प्रत्येक गतिशील पदार्थ अथवा मैशीन से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है।

यदि यह समझा जावे, जैसे कि पहले कुछ गतिवादी वैज्ञानिक मानते थे. कि गति करना इन परमाणुओं का अपना स्वाभाविक गुण है, तो उसके उत्तर में निवेदन है कि गुण गुणी के साथ रहता है। उससे पृथक् नहीं हो सकता। जैसे अग्नि का स्वाभाविक गुण जलाना वा ताप और प्रकाश करना है। यदि ये गुण अग्नि में न रहें तो उसको अग्नि नहीं कहा जाता किन्तु उसको राख या भस्म कहा जाता है।

अर्थात् स्वाभाविक गुण गुणी से पृथक् नहीं हो सकते। इस लिये यदि प्रकृति के इन सूक्ष्म परमाणुओं का स्वाभाविक गुण गति है, तो वह इन परमाणुओं से अलग नहीं हो सकती। जिसका फल यह होगा कि परमाणु अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार सदा गति करते रहेंगे, और स्थिर न हो सकेंगे।

यदि गतिहीन हो जायेंगे तो परस्पर मिल कर कोई स्थूल-आकृति ग्रहण नहीं कर सकते। जिसका परिणाम यह होगा कि सृष्टि बन ही नहीं सकती। जैसे ईंटों का स्वभाव यदि गति करने का हो तो प्रत्येक ईंट प्रत्येक समय गति करती रहेगी, इसलिये कोई भी मकान नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार परमाणु या ऐटम् या ऐलैक्ट्रोन का स्वाभाविक गुण गति मानने से सृष्टि बन नहीं सकती। परन्तु सृष्टि बनी हुई हमारे सामने है, अर्थात् प्रत्यक्ष है।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में स्थिरता है—यद्यपि कुछ समय के लिये है। क्योंकि सृष्टि के पदार्थ बनते भी हैं, कुछ काल स्थिर भी रहते हैं; और फिर बिगड़ते भी हैं, अर्थात् अपने कारण परमाणुओं में मिल जाते हैं। अब यहां एक प्रश्न और उठता है, कि यदि यह मान लिया जावे कि इन परमाणुओं का परस्पर मिलना, कुछ काल स्थिर रहना, और फिर पृथक् हो जाना तीनों अवस्थायें स्वाभाविक गुण से हैं तो फिर प्रश्न उठता है कि ये तीनों गुण प्रकृति के सम हैं या न्यूनाधिक। यदि यह माना जावे कि मिलने का गुण अधिक है तो इतने समय के पश्चात् जो गुण अधिक है अब तक उसकी विशेषता बहुत बढ़ जानी चाहिये थी जैसे कि संसार की साधारण शक्ति अग्नि, जल, वायु में दृष्टिगोचर होता है। और इस प्रकार सृष्टि का लय होना, और कुछ काल स्थिर रहना, बन्द हो जाते अर्थात् समाप्त हो जाते।

यदि परमाणु में नाश का गुण अधिक होता सो सारी प्रलय हो गई होती हमको कुछ भी दृष्टिगोचर न होता। और यदि परमाणुओं में स्थिरता का गुण अधिक माना जावे तो सृष्टि का प्रलय होना असम्भव होता, सारी सृष्टि स्थिर ही होती और सृष्टि की प्रत्येक वस्तु एक जैसी ही दृष्टिगोचर होती। अर्थात् परमाणुओं के मिलने का गुण और पृथक् होने का गुण दोनों दृष्टिगोचर न होते। परन्तु हम देखते हैं कि सृष्टि अपने आरम्भ से आजतक अर्थात् २ अरब साल से बनती, स्थिर रहती और बिगड़ती भी है। जिससे प्रतीत होता है कि ये तीनों गुण प्रकृति के स्वभाविक नहीं हैं, अपितु नैमित्तिक है। किसी दूसरी चेतन शक्ति से अन्दर आये हैं। और वही शक्ति सर्वव्यापक है। इन परमाणुओं के अन्दर भी सूक्ष्म रूप से विचरता हुआ, इनको नियम पूर्वक गति देने वाला कोई नियन्ता है, जो सब सृष्टि का रचयिता स्वामी तथा अधिष्ठाता होने से ईश्वर कहलाता है। जैसे शरीर (मनुष्य रूपी कारखाने) के अन्दर जीवात्मा व्यापक होते हुए शरीर के सब अङ्गों से कार्य लेता है और उनका स्वामी है निम्नलिखित युक्तियां इस सचाई की पुष्टि करती हैं—

युक्ति संख्या १—प्रतिदिन सब को दृष्टिगोचर होता है, कि रूई का एक बड़ा ढेर प्रैसिङ्ग मैशीन के द्वारा दबा कर एक छोटी सी गांठ बना दी जाती है। रूई अपने आप गांठ के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। जब तक कोई चेतन शक्ति मनुष्य ज्ञानपूर्वक और नियमानुसार कार्य न करे,

कोई पागल मनुष्य भी इस कार्य को नहीं कर सकता। परन्तु फिर भी उस रूई के भार को मनुष्य बड़ी से बड़ी विद्या से या शक्ति से घटा नहीं सकता। वजन रूई की गांठ के अन्दर पूरा उपस्थित रहता है।

युक्ति संख्या २—परन्तु एक बरगद या पीपल के वृक्ष को उसकी शाखायें और अनन्त फूल फल तथा पत्ते और सैकड़ों मन की वज़नदार लकड़ी को एक छोटे से बरगद या पीपल के बीज में कौन बन्द कर देता है? और वज़न को भी बहुत सूक्ष्मरूप में अन्दर ही रख देता है।

यदि ये सब कुछ बीज के अन्दर नहीं हैं तो उसके अन्दर से कैसे निकलते हैं? क्या इस अदृश्य प्रैसिङ्ग मैशीन को बनाकर और संसार की वनस्पति वृक्षादि के लिये उपयोग में लाकर नियम पूर्वक सृष्टि को उत्पन्न करने वाली कोई चेतन ज्ञानवान् शक्ति नहीं है? वही ईश्वर है। और वह सर्वव्यापक ही होनी चाहिये। नहीं तो सारी सृष्टि के सब स्थानों पर इस विचित्र मैशीन को कौन कार्य में लाता है। यह विचित्रकार्य नियमपूर्वक जड़ प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती। क्योंकि उसमें बुद्धि, ज्ञान, नियमपूर्वक क्रिया वा गति करने का गुण दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु प्रकृति का गुण गति भी सिद्धि ही नहीं होता।

युक्ति संख्या ३—सूर्य, अग्नि, विद्युत्, वायु जल, पृथ्वी, आकाश ये सब जड़ हैं। आजकल के वैज्ञानिक भी यही मानते हैं। और दृष्टिगोचर भी यही होता है। फिर

सारी सृष्टि अर्थात् द्यु लोक में अनन्त सूर्य चन्द्र तारे आदि अथवा अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक में जो पदार्थ गति कर रहे है। उनको नियम पूर्वक गति देने वाला, और इन सब नियन्ता तथा अधिष्ठाता वह ईश्वर ही हो सकता है। इसी प्रकार एक बात और विचार करने की हैं कि सूर्य और अग्नि तो जड़ हैं, और पशु पक्षी मनुष्य आदि की आंखें भी जड़ है और वे पांच भूत या तत्त्वों से ही बनी हैं जिनमें ज्ञान नहीं है। परन्तु आँख का सम्बन्ध सूर्य से है, जिसके बिना आंख चाहे कितनी मोटी और सुन्दर हो किसी भी कार्य की नहीं है, अन्धी ही रहती है। ऐसे ही जिह्वा का सन्बन्ध जल से है, और शेष इन्द्रियों का शेष अपने २ कारण भूतों से है, और इन सबको देव कहा जाता है क्योंकि इनके बिना संसार की कोई कार्य सिद्धि नहीं होती। परन्तु इन सब का परस्पर सम्बन्ध सर्वत्र स्थिर करने वाला कौन है? मनुष्य चाहे कितना ही विद्वान् और कितने ही बड़े शासन का स्वामी हो इस कार्य में असमर्थ है। बिना सूर्य के इन आंखों से कोई कार्य नहीं ले सकता क्योंकि इन दोनों शक्तियों का बनाने वाला मनुष्य नहीं है, इसलिये इनके सम्बन्ध में इसका कोई हाथ नहीं हो सकता।

ऐसे ही वायु सर्वत्र विद्यमान है। मनुष्य पशु पक्षी आदि सबके शरीरों के अन्दर वर्तमान है। परन्तु प्राण वायु को शरीर के अन्दर कौन प्रवेश कराता है, और समय पर

निकाल भी लेता है। यद्यपि सब प्राणियों की मृत्यु हो जाने पर भी वायु शरीर के अन्दर और यथापूर्ण वर्तमान रहती है तो इस वायु के विभाग करके या एक नूतन प्राण वायु बना कर निश्चित परिमाण में आवश्यकतानुसार प्राणियों के शरीर के अन्दर कौन भरता है? और उनकी इच्छा के प्रतिकूल निकाल भी ले जाता है। यद्यपि वायु स्वयं जड़ है। इसलिये यह ज्ञानपूर्वक क्रिया करने वाला सर्वशक्तिमान् अनन्त ज्ञान वाला सर्वव्यापक चेतन, वही ईश्वर है जिसका जानना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

इसी प्रकार प्राणवायु का सम्बन्ध फेफड़ों से है। और सृष्टि के आरम्भ काल से चला आता है, मनुष्य को इस ज्ञान का पता कुछ समय से लगा है। परन्तु यह सम्बन्ध करोड़ों तथा अरबों वर्षों से चला आता है। इस ज्ञान का ज्ञानी मनुष्य नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य ने न प्राणों को और नाही फेफड़ों को बनाया है। और जीव को, जो इस शरीर के अन्दर रहता है, इस सम्बन्ध के नियत करने का ज्ञान नहीं है। इसलिये इस सम्बन्ध का नियन्ता और ज्ञाता वही सृष्टि का ज्ञाता है।

जैसे एक इञ्जन या घड़ी के अन्दर विभिन्न पुर्ज़ों का सम्बन्ध नियत करने वाला एक जीता जागता चेतन ज्ञानी इञ्जिनियर या घड़ीसाज़ है। और जिसके नियमों का जानना उस मनुष्य के लिये आवश्यक है जो इञ्जन या घड़ी

से ठीक देर तक कार्य लेकर उन्नति करना चाहता है, और सुखी होना चाहता है। उसके विपरीत इन स्थिर नियमों से अज्ञानी रहने पर उस मनुष्य के लिये वह घड़ी या इञ्जन लाभप्रद नहीं हो सकेगा और वह इञ्जन भी सदुपयोग न लेने से व्यर्थ हो जावेगा। ऐसे ही यह सारा संसार उस मनुष्य के लिये निष्फल तथा व्यर्थ है, और उसका अपना मनुष्य जन्म भी व्यर्थ है, जो उस सृष्टि रचयिता और उसकी बताई सृष्टि के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न नहीं करता।

युक्ति संख्या ४—अग्नि या विद्युत् सर्वत्र अन्दर विद्यमान है। अग्नि का गुण भी प्रकाश है परन्तु वह स्वयं प्रकाश नहीं करती, जब तक उसकी दोनों शक्तियों अर्थात् Positive and Negative (ऋणात्मक और धनात्मक) को पृथक् २ करके फिर दोनों तारों के द्वारा उनको नियमानुसार मिलाया न जावे। परन्तु यह पृथक्-करण मिश्रीकरण की क्रिया विद्युत् अपने आप नियमानुसार चल कर संसार को प्रकाशित नहीं कर सकती। कोई ज्ञानी इञ्जिनियर मनुष्य ही विद्युत् के आदि सृष्टि से नियत नियमानुसार ही कार्य करके प्रकाश कर सकता है और लाभ उठा सकता है। चाहे मनुष्य को अब कुछ वर्षों से इस नियम का पता लगा हो परन्तु विद्युत् और विद्युत् से प्रकाशादि शक्तियों से लाभ उठाने का नियम तो आदि सृष्टि से उपस्थित है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता है इसलिये इस विद्युत् को आदि सृष्टि से अपने

नियमों में बांधने वाला अर्थात् इसी प्रकार की और शक्तियों के नियम जैसे पृथिवी सूर्य चांद आदि का आकर्षण और नियमानुसार गति करने की विद्या को मनुष्य अपना आविष्कार समझता है परन्तु यथार्थ में यह सब उसी सर्वव्यापक सनातन चेतन शक्ति के ही आविष्कार हैं। जिसका मुख्य नाम "ओ३म्" है और उसके बनाये नियमों के अनुसार सृष्टि से कार्य लेना ही मनुष्य का कर्तव्य या धर्म है। और वही कर्तव्य मनुष्यमात्र के लिये सदा लाभदायक तथा कल्याणकारी हो सकता है।

दूसरी सृष्टि इसको चर या चेतन जगत् कहा जाता है, जो यह स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती है, अर्थात् स्वयं गति करते हुए दृष्टिगोचर होती है। इस चर या चेतन जगत् में भी दो प्रकार की सृष्टि है। एक पशु पक्षी जलचर आदि दूसरी मनुष्य सृष्टि। इस सृष्टि में भी थोड़े विचार से पता लग सकता है कि एक विशेष अनन्त शक्ति ही काम कर रही है जिसकी सहायता या नियम के बिना यह जीवात्मा जो इन शरीरों के अन्दर क्रिया करता है, कुछ भी नहीं कर सकता। इस सृष्टि का मूलाधार भी वही ईश्वर है। निम्नलिखित युक्तियां इस सचाई को पुष्ट करती हैं—

युक्ति संख्या १—यह तो सभी जानते व मानते हैं कि जो भी जीव इस मनुष्य पशु पक्षी के शरीर में आता है उसको सुख दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं। पहले तो नौ

महीने गर्भ जैसी संकीर्ण तथा मलीन कोठरी में रहना पड़ता है और फिर जन्म का दुःख । फिर ऐसा कौन है जो कभी रोगग्रस्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त भूख प्यास मिटाने की चिन्ता सबको ही निरन्तर रहा करती है इसके इलावा कौन प्राणी है जो मृत्यु के मुख से बच सके। यह शरीर जिसके पालन पोषण और सुन्दर बनाने के लिये मनुष्य रातदिन यत्न करता है और उसकी रक्षा के लिये अपना सर्वस्व त्यागने को तय्यार रहता है, परन्तु उसको अपनी इच्छानुसार अपने पास नहीं रख सकता। चाहे कोई चक्रवर्त्ती महाराजा अवतार या पीर पैगम्बर ही कहाता हो, कोई भी माता के गर्भ, जन्म तथा मृत्यु के दुःख से नहीं बच सकता है। बुढ़ापे के कष्ट से भी आजतक कोई भी शक्तिशाली और विद्वान् या धनी बच न सका और न बच सकेगा। तब इन अनिवार्य कष्टों की कोई भी मनुष्य इच्छा नहीं करता। इसलिये इससे यह सिद्ध होता है, कि इन उपरोक्त दुःखित अवस्थाओं पर जीव का कोई अधिकार नहीं है जैसा कि महात्मा भर्तृहरि जी ने कहा है—

> "व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
> रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
> आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
> लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥"

मनुष्य जिसको बुढ़ापे ने घेरा हुआ है, शरीर भी रोगी है, आंख नाक आदि ज़वाब दे चुके हैं, पांव चलते हुए

लड़खड़ाते हैं, हाथ कांपते हैं, सिवाय पृथिवी के रहने के लिये अपना मकान नहीं, लंगोटी के अतिरिक्त पहनने के लिये कपड़ा नहीं। खाने के लिये कोई वस्तु नहीं। प्रतिदिन घर-घर मांगता फिरता है, परन्तु फिर भी मृत्यु को नहीं चाहता। इससे सिद्ध होता है कि यह शरीर सबको प्यारा है, इसको कोई छोड़ना नहीं चाहता परन्तु एक दिन वृद्ध होना ही पड़ता है, और अपनी इच्छा के विपरीत मरना भी पड़ता ही है।

पाठक गण! सोचिये कि यह जन्म-मरण, बचपन जवानी तथा बुढ़ापे का नियम किस के आधीन है? प्रकृति तो स्वयं जड़ है, उसमें गति तथा ज्ञान दोनों का अभाव है क्योंकि मिट्टी से घड़ा किसी ने आजतक बनता नहीं देखा। जीव इस परिवर्तन को चाहता नहीं और न ही इस सर्वव्यापक नियम पर जीव का अधिकार है। इसलिये जीव के अतिरिक्त कोई और अनन्त तथा सर्व व्यापक शक्ति माननी ही पड़ती है जिसके आधीन ये नियम हैं। वही ईश्वर है।

सांसारिक शासन में भी कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही घोर पाप करे, जेल में जाना और स्वयं अपने आप दण्ड लेना नहीं चाहता। कोई गवर्नमेण्ट या शासक अथवा उसके कर्मचारी ही पापी मनुष्य को पकड़ कर जेल में डालते और कितने वर्ष पर्यन्त उसको बन्द रखते हैं। अथवा फांसी या काला पानी के दण्ड भोगने के लिये बाधित करते हैं। और दण्ड भोगने से पहले भागने भी नहीं देते। परन्तु इस

जीव को मनुष्य या पशु योनि रूप जेलखाने में डालकर इस जन्ममरण और बुढ़ापे आदि दुःख रूप दण्ड कौन देता है? क्योंकि जीव स्वयं इन दुःखों की इच्छा नहीं करता किन्तु इनसे बचने का भरसक प्रयत्न करता रहता है। इसलिए इन नियमों का नियन्ता वही सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है।

वही ईश्वर सूक्ष्मतम होने से जीव के अन्दर भी व्यापक है और कर्मों के फलदाता होने से जीव को उसके कर्मानुसार जिस जेलखाने में उचित समझता है, भेज देता है। और यद्यपि जीव उस जेलखाने से भागना चाहता है परन्तु वह न्यायाधीश नियमानुसार अपने अनन्त बल से दण्ड की अवधि पूर्ण होने से पूर्व भागने नहीं देता। और जिस प्रकार प्रत्येक गवनमैंट कैदी को जेल में भेजने से पूर्व उसके भोजन वस्त्र तथा स्नानादि का पूरा २ प्रबन्ध कर देती है और जैसा भोजन वस्त्रादि जेल के अधिकारी उस को देते हैं वही भोजन वस्त्र या स्थानादि उसको स्वीकार करना पड़ता है। उसकी अपनी इच्छा वहां नहीं चलती। ऐसे ही उस सारी सृष्टि के न्यायाधीश के नियम तथा प्रबन्धानुसार, जीव की इच्छा के विपरीत; किसी को गधे की, तथा किसी को गंदगी के कीड़े की; अथवा मनुष्य योनिरूप जेल में जाना और रहना पड़ता है और जैसा भोजन जिस योनि के लिए नियत है वैसा ही उस को खाना पड़ता है।

जैसे गौ के बच्चे और बकरी या मनुष्यादि के बच्चों के जन्म से पूर्व ही उनकी माताओं के स्तनों में दूध आजाता है इन सब नियमों पर जीव का कोई अधिकार नहीं है।

युक्ति संख्या २—मनुष्य यदि यह चाहे कि पक्षियों की भांति उसे भी पर लग जावें, जिस से मैं आकाश में उड़ भी सकूं और पृथिवी पर भी चल सकूं। मछली की भांति पानी में भी सदा तैरा करूं परंतु मेरा शरीर पानी में गले नहीं और सर्दी लग कर निमोनियां भी न हो। और मैं मधुमक्षिका की तरह अपने मुंह या दांतों से फूलों में से शहद निकाल कर घर में किसी पात्र में जमा करके अपनी इच्छानुसार समयानुकूल खा लिया करूं परन्तु फूल की स्थिति में और सुन्दरता में कोई भेद न आए। मेरी आंखें चील जैसी तीक्ष्ण होजावें, घर बैठे कितने ही मीलों तक देख लिया करूं और कोई वस्तु मेरे देखने में बाधा न डाले। अथवा बिल्ली या उल्लू की भांति रात्रि को भी देख लिया करूं और हिरण जैसी छलांग भी लगाया करूं तो क्या इन इच्छाओं को मनुष्य पूरा कर सकता है? मनुष्य में तो इतनी शक्ति नहीं है कि अपने सिर के टूटे हुए बाल को भी फिर लगा सके। अपने एक श्वास को जो उसके अन्दर से निकल गया है, उसको वापिस ला सके। जिस मनुष्य को कल का भी पता नहीं कि कल क्या होगा अपने पीछे पड़ी वस्तु या पीछे बैठे मनुष्य तक का ज्ञान नहीं

होता वह क्या माता के गर्भ में आंख नाकादि इन्द्रियां बना सकता है? जिसके गर्भ में उसको कोई आवश्यकता ही नहीं। इन सब साधनों को बनाने वाली और देने वाली वह जगन्माता ही है। वह इस जीव को जेल में भेज रही है, और वही जानती है कि इस जीवरूप सन्तान को संसार में जाकर किन किन साधनों की आवश्यकता होगी। क्या मनुष्य किसी खेत में चने बीज करके गेहूं की फसल काट सकता है? !

इन ऊपर लिखित दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि जीव का इन नियमों पर कोई भी अधिकार नहीं, और न इन में वह कुछ परिवर्तन कर सकता है। अपितु उस जगन्नियन्ता के नियमों के अनुकूल इन शरीररूप जेलखानों में कुछ सुख प्राप्त कर सकता है और अपना सुधार भी कर सकता है। और यदि इन नियमों के विपरीत कोई क्रिया करे तो उल्टा दुःख बढ़ जाता है और दण्ड भी अधिक हो जाता है। इसलिये मनुष्य का कल्याण इसी में है कि उस जगन्नियन्ता का और उस के नियमों का ज्ञान प्राप्त करे। यही मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। इस के अतिरिक्त जीव के जेलखाने और दुःखों को कम करने का और कोई उपाय नहीं है—

ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

युक्ति संख्या १—जिसने आंख पर पट्टी बांध रक्खी है। आंख बन्द करके चल रहा है अथवा अन्धा है उस को सरज

से क्या लाभ है। यदि वह कहे कि संसार में सूरज है ही नहीं तो उसको लोग अज्ञानी या मूर्ख ही समझेंगे जब कि संसार के शेष पुरुष जो कि अन्धे नहीं जिन्हों ने आंखों पर पट्टी नहीं बांधी वे तो सूरज को देख ही रहे हैं। और आकाश से लाभ भी उठा रहे हैं जैसा कि महात्मा भर्तृहरि जी ने कहा है।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे, दोषो वसन्तस्य किम्।
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा, सूर्यस्य किं दूषणम्॥
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे, मेघस्य किं दूषणम्।
यत् पूर्वं विधिना ललाटलिखितं, तन्मार्जितुं कः क्षमः॥

अर्थ—करीर (डेले के) वृक्ष पर यदि पत्ते नहीं लगते, तो इस में वसन्त ऋतु का क्या दोष है। उल्लू दिन में नहीं देखता है तो सूर्य का इसमें क्या दोष है। जलधारा चातक पक्षी के मुख नहीं पड़ती तो इसमें मेघ का क्या दोष है। कर्मों के फल को संसार में कौन परिवर्तन कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं।

युक्ति संख्या ५—जो कान से बहरा है, या कानों में जिस ने रूई या मोम भर रखा है उसको संसार के सुन्दर गीत अथवा शब्द कैसे सुनाई दे सकता है? फिर उसके कथनानुसार क्या मनुष्य यह मान लेंगे कि संसार में शब्द ही नहीं है।

युक्ति संख्या ३—जिसकी नासिका मल से भरी है या जुकाम के कारण बन्द है अथवा नासिका में रूई दे रक्खी है उसको सुगन्ध से क्या लाभ है ? फिर क्या संसार के फूलों ने सुगन्धि देनी छोड़ दी है या उसके कथनानुसार जनता यह मान लेगी कि संसार में सुगन्धि ही नहीं रही है।

युक्ति संख्या ४—जिसको ज्वर की गर्मी में मीठा पदार्थ भी कड़वा लगता है या उसकी जिह्वा या मुख में फफोले पड़े हैं कुछ खा नहीं सकता तो क्या उसके अनुभवानुसार संसार में मीठा पदार्थ ही नहीं रहा है ? जैसे इन चारों इन्द्रियों के विकारों के दूर करने से चारों पदार्थों का ठीक २ अनुभव हो सकता है और मनुष्य इनके भोग का आनन्द ले सकता है, अन्यथा दुःखी होता है। और इन उपरिलिखित वर्तमान पदार्थों का अभाव निरूपण करना भी अज्ञानता है। ऐसे ही परमेश्वर भी प्रत्यक्ष है और उसके अनन्त गुणों को जीव प्राप्त कर सकता है परन्तु शर्त यह है कि मनुष्य ने जो अज्ञान की या सांसारिक मोह की पट्टी बांध रक्खी है उसको खोल देवे और ज्ञानेन्द्रिय से जो कि मनुष्य का दिव्य तीसरा चक्षु, वही उसकी सत्य प्रकाश के देने वाली असली आंख है। इसके बिना मनुष्य देखता तथा सुनता हुआ भी यथार्थ देखता वा सुनता नहीं है। इस आंख के खुलने पर मनुष्य ईश्वर को देखने लगता है, या अनुभव करने लगता है।

जैसे कि नशे पीने वाला नशे की अवस्था में ठीक देखता

सुनता या खाता पीता नहीं है, और दुःखी होता है। यद्यपि दूसरे लोग जिन्होंने नशा नहीं पिया और जिन की इन्द्रियां नाक कान आदि स्वस्थ हैं वे अपना कर्त्तव्य कर्म ठीक कर रहे हैं और संसार के पदार्थों को वास्तव रूप में देखकर उनसे उचित उपयोग लेकर सुखी हो रहे हैं, ऐसे ही जिन मनुष्यों को विषय वासना के दूषित दोष पूर्ण नशे ने मूर्छित नहीं किया है, और जिन्होंने अपने बुद्धि को इन्द्रियों के विषयों के अधीन नहीं किया है। ऐसे ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र देखते और अनुभव करते हैं कि वही ईश्वर इस संसार रूपी कारखाने का स्वामी अधिष्ठाता और नियन्ता है। और उसके नियमों के अनुकूल अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए प्रतिदिन ऐसे महानुभाव उन्नति के शिखर पर स्वयं चढ़ते चले जाते हैं, और जनता के भी पथ-प्रदर्शक बनते है।

[५]

दूसरा कर्त्तव्य

आत्मज्ञान अथवा अपने स्वरूप का ज्ञान

जब यह निश्चय हो गया कि इस संसार रूपी कारखाने या परिवार का कोई महान् सर्वात्मा स्वामी है। और यह मनुष्य इस संसार का स्वामी नहीं अपितु भोक्ता है और इस संसार के सर्व पदार्थ और शक्तियां इस सर्वात्मा के अधिकार में हैं जिस ने जीव को योनि में भेजा है। (क्योंकि यह अपनी इच्छा से इस शरीर में नहीं आया है और न अपनी इच्छा से छोड़ता है।) और यह सब दृश्यमान पदार्थ उस सर्वात्मा की ओर से इस जीव को सदुपयोग के लिये अर्थात् उसकी आज्ञानुसार बरतने के लिये दिये गये हैं। इस लिये सर्व प्रथम यह जानना परम-आवश्यक है कि इस जीव की संसार में क्या स्थिति है, और वह स्वयं क्या है, और उसका अपना स्वरूप क्या है।

क्योंकि जब तक किसी कारखाना परिवार में किसी कारीगर या आफिसर या सेवक की अपने आप का पता नहीं

अथवा अपनी स्थिति या Position का पता नहीं कि वह माता, पिता, पुत्र, वैद्य, रोगी, क्लर्क, गणक, लुहार और तरखान में से क्या है। वह अपने कर्त्तव्य का कैसे निश्चय करे और कारखाने के पदार्थों को किस प्रकार उपयोग में लावे? अर्थात् अपने कर्त्तव्य धर्मों का कैसे निश्चय और पालन करे और किस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करके उत्तम पदवी का अधिकारी बने। इस लिये दूसरा कर्त्तव्य संसार में मनुष्य का यह है कि वह अपने आप को जाने कि 'मैं' क्या हूं। और उस जगत्-रचयिता या उसके पदार्थों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है।

जो लोग यह कहते हैं कि यह समस्त संसार केवल ब्रह्म ही है, अथवा कुछ नहीं या भ्रममात्र ही है। अथवा जो यह कहते हैं कि जीव और परमेश्वर कोई नहीं यह केवल प्रकृति की गतियां (Energy) है, और प्रकृति के परमाणुओं के संसर्ग या संघर्ष से एक चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है और परमाणुओं के पृथक् होने पर या मृत्यु होने पर नहीं रहती। इस विषय में विचारना चाहिये कि यदि केवल ब्रह्म ही सब कुछ है तो ब्रह्म ज्ञानी है अथवा अज्ञानी? यदि ज्ञानी है तो उसका ज्ञान किस के लिये है? जैसे एक स्कूल-मास्टर या अध्यापक तो है, परन्तु संसार में कोई स्कूल या उसमें पढ़ने वाला कोई विद्यार्थी न हो तो अध्यापक का ज्ञान किस के लिये है? अर्थात् अध्यापक का ज्ञान निष्प्रयोजन हो जाता है।

फिर इसी प्रकार क्या ब्रह्म का ज्ञान भी निष्प्रयोजन है? परन्तु निष्प्रयोजन ज्ञान या कर्म करने वाला मनुष्य संसार में मूर्ख गिना जाता है, तो क्या ब्रह्म को भी मूर्ख और अज्ञानी समझा जावे? जो कि सर्वथा असम्भव है। वास्तव में ब्रह्म का ज्ञान अपने जीवरूप सन्तान-शिष्यों के लिये है, जो कि अल्पज्ञानी और ब्रह्म से पृथक् शक्ति है। अन्यथा ब्रह्म का ज्ञान निरर्थक हो जावेगा। यदि यह कहा जावे कि यह सब संसार भ्रम ही है, तो यह भ्रम होने का ज्ञान किस को होता है फिर क्या ईश्वर या ब्रह्म को भी भ्रम होता है? और भ्रम तो अज्ञानी को हो सकता है जो कि ब्रह्म में सम्भव ही नहीं है। इसलिये संसार को भ्रम समझने वाला जीवात्मा है जिसको अल्पज्ञानी होने के कारण ज्ञान की परम आवश्यकता है।

यदि यह कहा जावे कि कोई अध्यापक या विद्यार्थी संसार में नहीं है, तो यह समस्त संसार निष्प्रयोजन या निरर्थक ठहरता है। क्योंकि विद्यालय, महाविद्यालय रूप संसार तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, और उनके अन्दर जो फल वाटिकादि पुस्तकें, मानचित्र, कलम दवात सियाही नाना प्रकार की वस्तुएं वर्तमान हैं, और जिसकी स्थिति को प्रतिपक्षी भी स्वीकार करते हैं तो यह समस्त सामग्री किस के लिये है? क्या संसार में मकान फूल फलादि स्वयं अपने आप अपने लाभ के लिये बनते हैं? क्या ईंट पत्थर चूना अपने लाभ के लिये, अथवा किसी अपने प्रयोजन सिद्धि के लिये

मकान में जा लगते हैं ? क्या कलम दवात सियाही पुस्तकें आदि अपने किसी प्रयोजन के लिये, अपने-आप बनती हैं ?

परन्तु इसके विपरीत देखा जाता है कि ये सब जड़ पदार्थ किसी चेतन शक्ति के लिये, जो इन पदार्थों से पृथक् है, और जिसको इन पदार्थों की आवश्यकता है, बनती हैं और उगती हैं। और इनके बनाने वाला और उगाने वाला एक अलग महान् अनन्त शक्ति है जो इन सब पदार्थों को उत्पन्न करता है, और यथानियम पालन और लय करने वाला है। और जिसको इन पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह पूर्णकाम है, जैसा कि वेद में कहा है।

अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू: रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन:।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्युं, आत्मानं धीरमजरं युवानम्।

जो कि पूर्ण काम है, धीर है, (अमृत:) नाश रहित (स्वयंभू:) जिसको दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है जो प्रत्येक प्रकार से तृप्त है, इसको जानकर ही विद्वान् जीव मृत्यु के दाव से बच सकते हैं।

वह परमात्मा जीव रूप अपनी सन्तान की शिक्षा के लिये साधन रूप में वेद को उत्पन्न करता है। जैसे सांसारिक माता पिता अपनी अज्ञानी सन्तान की आवश्यकता को जानते हुए विना मांगे ही बच्चे के लिये कपड़े बनवाते, भोजन सामग्री जुटाते, और ज्ञान प्राप्ति के लिये पाठशालादि खुलवाते हैं। इसी प्रकार

परमात्मा जीवों के बिना मांगे उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संसार के पदार्थ और वेदरूप ज्ञान को ऋषियों द्वारा सृष्टि के आरम्भ में उपस्थित करता है।

जो लोग यह कहते हैं कि यह संसार केवल मात्र प्रकृति की ही रचना है, उनके लिये उत्तर में निवेदन है कि क्योंकि गुण गुणी के ही साथ रहते हैं इसलिये जड़ प्रकृति से चेतन जीव या ईश्वर उत्पन्न नहीं हो सकते हैं और ना ही असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है। इस लिये इस संसार का पूर्णज्ञानी एक स्वामी हैं जिसको ईश्वर कहते हैं। और ये अनेक जीव उसकी सन्तान प्रजा वा शिष्य हैं। और ये संसार के पदार्थ वा शरीर इन जीवों के ज्ञान प्राप्ति और कर्मफल भोग के लिये उसी परम पिता की तरफ से साधन रूप रचे गये हैं।

यह संसार जीव के सदुपयोग और भोग के लिए है और ईश्वर स्वामी रूप में जीवों के कर्मों का द्रष्टा और फल देने वाला है। जैसे कि वेद भगवान् कहते हैं।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वाजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्रु अत्ति अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति"।

अर्थ—प्रकृति रूप एक वृक्ष पर एक जीव और दूसरा परमेश्वर समान रूप से रहते हैं। परन्तु जीव सुखदुःख रूप फलों को भोगता है और परमेश्वर न भोगता हुआ साक्षी रूप से विद्यमान है।

इन उपरिलिखित युक्तियों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि जीवात्मा की इस संसार में क्या स्थिति है और उसका सृष्टि रचयिता ईश्वर से, और संसार के पदार्थों से क्या सम्बन्ध है। अब यह वर्णन करने का यत्न किया जाता है कि जीव का क्या स्वरूप है। Selfknowledge अर्थात् आत्मज्ञान और उसकी शक्तियों का लक्षण क्या है और उसका अपने प्रति क्या कर्तव्य है ?

जैसा कि बृहदारण्यक के ऋषिवर ने कहा है कि—

स यावद्ध वा इन्द्रं न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभि बभूवुः। स यदा विजज्ञावथ हत्वाऽसुरान् विजित्य सर्वेसां भूतानां श्रैष्ठ्यम् स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैति।

अर्थ—इन्द्र जीवात्मा जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता, असुर पाप वृत्तियां उसको दबाती हैं। ज्यों ही यह अपने स्वरूप को जान लेता है त्यों ही पापवृत्ति रूप असुरों को मारकर, अथवा जीत कर सर्व भूतों से श्रेष्ठता और स्वराज्य अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। जैसे सृष्टि रचयिता परमेश्वर एक शक्ति है जो कि इन चर्मचक्षुओं से तो दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु अपने गुणों और सृष्टि रचना रूप कार्य से प्रत्यक्ष है और उसका अनुभव ज्ञान से ही होता है। ऐसे ही जीवत्मा को भी इन चर्मचक्षुओं से मनुष्य देख नहीं सकता, परन्तु ज्ञान दृष्टि से उसके लक्षण ज्ञान और प्रयत्न को देख कर जीव की स्थिति का अनुभव अवश्य होता

है। अर्थात् जहां 'मैं' हूं, अपने आपके होने का ज्ञान है, और जहां सुख प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति के लिये कर्म या प्रयत्न का अनुभव होता है, वहां जीवात्मा है। जैसे नीचे लिखे दृष्टान्त से स्पष्ट हो जावेगा।

कोई दो मित्र प्रात:काल प्रति दिन नगर से बाहर भ्रमण के लिये जाया करते थे। एक दिन शीत अधिक होने के कारण उन में से एक ने उठकर गर्म सूट पहिना और ऊपर ओवर कोट भी पहन कर दूसरे अपने मित्र को बुलाने के लिये उसके घर पर गया और अपने मित्र का नाम लेकर बाहर से ही आवाज़ दी। ऊपर से आवाज़ आई 'कौन है ?' नीचे वाले मित्र ने कहा 'मैं' हूं। और ऊपर वाले ने समझा कि मेरा अमुक मित्र मुझे बुलाने के लिये आया है। इस लिये वह भी गर्म कपड़े तथा गुलबन्द जुराबें फुल बूट आदि पहन कर नीचे आगया। घर से नीचे आकर उसने आने वाले मित्र के ओवर कोट को हाथ लगा कर पूछा, कि क्या यह 'मैं' है। मित्र ने उत्तर दिया, 'नहीं'। फिर उसने क्रम से छोटे कोट तथा कमीज और स्वेटर बुनियान को हाथ लगा कर पूछा कि क्या ये 'मैं' है। उत्तर मिला, 'नहीं'। फिर उसने अपने मित्र के शरीर पर हाथ रखकर पूछा कि क्या यह 'मैं' है ? तो दूसरे मित्र ने ज़रा विचार कर उत्तर दिया कि यह भी 'मैं' नहीं है। 'तो फिर 'मैं' क्या है ?'

इस प्रश्न के उत्तर में पहिले मित्र ने कहा कि जीवात्मा

इन समस्त वस्त्रों और शरीर से पृथक् है, और जिसके लिये ये सब कुछ है। जैसे आंख का विषय देखना है; कान का सुनना, नासिका का सूंघना, और रसना का रस लेना है परन्तु वह कौन है जो यह कहता है कि मेरी आंख थक गई, बहुत देखने और पढ़ने से मेरी आंख में रोग हो जावेगा। आंखें मीच लेता है, और देखना या पढ़ना बन्द कर देता है। परन्तु आंख का स्वभाव देखना है और देखना चाहती है ऐसे ही सिनेमा या राग सुनते हुए कौन कहता है कि राग बन्द करो, बहुत देर हो गई। प्रातःकाल समय पर उठा न जावेगा, दफ़तर जाने में देर हो गई, अथवा वहां नींद आयेगी कार्य न हो सकेगा और दण्ड मिलेगा। परन्तु कान सुनने से इन्कार नहीं करता बन्द नहीं होता क्यों कि सुनना उसका स्वभाव है।

ऐसे ही बड़ी स्वादु मिठाई सामने पड़ी है। रसना मांगती है। परन्तु वह कौन है जो कहता है मिठाई उठालो, अधिक खाने से मेरा शरीर रोगी होगा। पेट में दर्द भी हो जावेगा। यद्यपि पेट तो बोलता नहीं। न रसना खाने से इन्कार करती है।

ऐसे ही वह कौन है जो कहता है कि बहुत सुगन्धि अच्छी नहीं। इतर को हटा लो नहीं तो जुकाम लगेगा। कितने ही दिन कार्य न हो सकेगा यद्यपि नासिका का गन्ध लेना ही स्वभाव है। नासिका से सुगन्ध लेना बन्द नहीं किया, अपने रास्ते बन्द नहीं किये और नाही इन समस्त इन्द्रियों के

गोलकों को ज्ञान है क्योंकि ये सब जड़ वस्तु हैं पांच भूतों के बने हुए हैं। इसलिये वह चेतन शक्ति जो इन गोलकों को अपना कहती है और जो इनके द्वारा देखती सुनती सूंघती और खाती है और जिसका यह शरीर है जिसका इन इन्द्रियों वा शरीर के रोगी या निर्बल होने से कार्य खराब होता है वही अन्दर से बोल रहा है, और वही जीवात्मा है।

यद्यपि वह इन आंखों से दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु इसके लिये ही आंख देखती, कान सुनते और जिह्वा रस लेती है। दांत भोजनादि को चबाते हैं, पांव चलते हैं हाथ कार्य करते हैं, फेफड़े खून को साफ करते हैं, पेट की भट्टी में भोजन से रस तथा रक्त बनकर समस्त शरीर में जाता है। और पांचों प्राण नियमपूर्वक रात दिन चलते हैं। अथवा जिसके इस शरीर के छोड़ने पर इस शरीर के अन्दर प्रत्येक प्रकार की क्रिया बन्द हो जाती है; वही जीवात्मा है।

यद्यपि शरीर की सब इन्द्रियों, आंख नाक कान गुदा आदि में मैला होता है और मैले के शरीर से पृथक् करने पर दुर्गन्ध सब को अनुभव होती है परन्तु जब तक वह सत् चित् और शुद्ध पवित्र शक्ति अन्दर उपस्थित है तब तक शरीर या इन्द्रियों तथा पेट से दुर्गन्ध नहीं आती है। परन्तु ज्यों ही वह शक्ति इस शरीर को छोड़ जाती है, तब ही यह शरीर दुर्गन्धयुक्त हो जाता है, इस शरीर और इन्द्रियों को पवित्र रखने वाली शक्ति का नाम जीवात्मा है। क्योंकि उसके

निकल जाने पर इस शरीर में रूप रंग आकर्षण प्रेम पवित्रता सुन्दरतादि कोई उत्तम गुण या शक्ति नहीं रहती और इसी वास्ते जो निकट सम्बन्धी प्रेम करने वाले भी, इस मृतक शरीर को हाथ लगाने और छूजाने पर अपवित्र समझे जाते हैं, और स्नान करते हैं।

हे मित्र ! जिस की स्थिति से इस शरीर के अन्दर उपरि-निर्दिष्ट सब गुण और ज्ञान रहते है और इस शरीर की क्रिया जारी रहती है, वही इस शरीर का स्वामी अर्थात् मैं' है। हे मित्र ! योरोपियन वैज्ञानिक भी मानते हैं, कि इस शरीर के समस्त परमाणु दो तीन वर्ष पश्चात् बदल कर नये हो जाते हैं और प्रत्यक्ष भी है कि जन्म काल में यह शरीर बहुत छोटा और थोड़े भार का होता है। फिर क्रमशः युवावस्था और बुढ़ापे को प्राप्त होकर कितना बड़ा और भारी हो जाता है, अर्थात् वह छोटा सा थैलारूप शरीर कितना लम्बा चौड़ा हो जाता है यद्यपि एक कपड़े के छोटे थैले या सिरहाने में कोई मनुष्य डेढ मन या दो मन रूई डालना चाहे तो नहीं डाल सकता न वह थैले को अधिक रूई भरने पर फटने से बचा सकता है। परन्तु जब तक इस शरीर में वह चेतन शक्ति विद्यमान है यह शरीर रूप थैला न तो फटता है और न इसके साथ कपड़ा या टाट गांठने की आवश्यकता है। और क्रमशः वजन के बढ़ने पर शरीर रूप थैले का चमड़ा स्वयं आवश्यकतानुसार बढ़ता चला जाता है।

इसके अतिरिक्त ये तीनों अवस्थाऐं अर्थात् बचपन, जवानी

तथा बुढ़ापा जड़ परमाणुओं के परिवर्तन का परिणाम है। परन्तु ये बचपन जवानी और बुढ़ापे की अवस्था की स्मृति जिसको रहती है, और उस समय के विभिन्न संस्कारों की स्मृति ६० या ७२ वर्ष की आयु में जिसको रहती है, और जिसको उन समस्त भले बुरे कर्मों के परिणामों को स्मरण करके दुःख और सुख का अनुभव भी होता है; हे मित्र ! वही चेतन शक्ति 'मैं' है।

हे मित्र ! ये संसार के सारे सम्बन्ध माता पिता पुत्र भाई बहिन पति पत्नी आदि और सब पदवियां प्रोफेसर वकील डाक्टर जज सेठ धनी पादरी भक्त मौलवी पण्डित संन्यासी आदि जिसके साथ युक्त होती हैं, वही शक्ति जीवात्मा या 'मैं' है। क्योंकि जब यह शक्ति शरीर को छोड़ जाती है, तो कोई सम्बन्धी इस मृतक शरीर से प्रेम नहीं करता और दूर भागते और कहते हैं पिता माता सेठ राजा वकील आदि का देहान्त हो गया अब इस शव को जलादो। यदि ये सब सम्बन्ध अथवा पदवियां इस शरीर की होतीं तो शरीर पूर्ववत् व्यवहार या प्रेम क्यों नहीं करता। किन्तु उसी समय जब कोई व्यक्ति आकर पूछे कि सेठ साहब या राजासाहब कहां हैं, उनके नाम का रुपया आया है तो सब लोग उसके पुत्र की तरफ संकेत करते हैं। अर्थात् जिसके शरीर के अन्दर वह 'मैं' रूप चेतन शक्ति विद्यमान है। और उस मृतक शरीर वाले सेठ की सर्व-सम्पत्ति उसके पुत्र की हो जाती है। यदि ये सब संज्ञाऐं पति पत्नी माता पिता सेठ आदि शरीर की हैं तो जलाने से पूर्व

शरीर तो घर में ही पड़ा रहता है, फिर पत्नी पति के लिये और पुत्र माता पिता के लिये रोते और दुःखी क्यों होते हैं।

ऊपर लिखे दृष्टान्तों से स्पष्ट हो गया है कि संसार के सम्बन्ध और पदवियां और संसार के सब पदार्थ धन ऐश्वर्य सामान आदि इस शरीर के लिये नहीं, किन्तु शरीर से पृथक् चेतन शक्ति के लिये हैं; जिसको जीवात्मा और 'मैं' कह कर पुकारा जाता है।

अब पाठकों को यह निश्चित हो गया होगा कि जीवात्मा या 'मैं' एक चेतन शक्ति है जिसके स्वाभाविक लक्षण ज्ञान व प्रयत्न हैं। और वह शक्ति सत् भी है। क्योंकि शरीर नाश हो जाने या जलाने पर भी उसका नाश नहीं होता, उसको अग्नि जला नहीं सकती, वायु उड़ा नहीं सकता, जल गला नहीं सकता। जैसा कि गीता में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इस आत्मा को अग्नि जला नहीं सकती, शस्त्र इसको काट नहीं सकते, जल गला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता। वह सदा से नित्य व सनातन है, और ऐसा होना भी चाहिये क्योंकि यह उस जगत् स्वामी की सन्तान या प्रजा है, जो कि नित्य वा सनातन है।

यदि उस जगत् स्वामी राजाधिराज की प्रजा ही नहीं, या वह प्रजा किसी समय हो, या किसी समय न हो तो वह नित्य स्वामी

या नित्य जगन्माता किस की है ? इस दशा में जगदीश्वर जगन्माता आदि नाम अथवा गुण उस महान् शक्ति जगन्नियन्ता. के साथ विशेषण रूप में लग ही नहीं सकते। इसलिये उस सत्य सनातन प्रभु की प्रजा भी सत्य और सनातन है।

इसके अतिरिक्त पाठकों को यह ज्ञात हो गया होगा कि जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध और पवित्र है, क्योंकि इसके अन्दर होने से शरीर में पवित्रता सुन्दरता आदि गुण रहते हैं और इसके न रहने से शरीर मलिन और दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। इसलिये यह पवित्रता का गुण भी उसी शक्ति का है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव सत्-चित् है, और स्वभाव से पवित्र भी है। इसी की आत्मदर्शन आत्मज्ञान या Self knowledge कहा जाता है, और इसी जीवात्मा ने ही उस जगत् स्वामी के साथ कोई सम्बन्ध पुत्र या सेवक या शिष्य आदि का स्थिर करके उससे सुख आनन्द का गुण लेना है जो कि सत् चित् और आनन्द का स्रोत है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जीव स्वभाव से शुद्ध पवित्र है तो पवित्रता में शक्ति और ज्ञान तथा सुख होता है फिर वह निर्बल अशान्त अज्ञानी होकर दुःखी क्यों होता है ? इसका कारण यह है कि ये त्रुटियां जड़ प्रकृति के सङ्ग दोष से आती हैं। और सुख-वृद्धि उस ज्ञान वा आनन्द के स्रोत परमेश्वर के सङ्ग से होती है। क्योंकि जीवात्मा एकदेशी अल्पज्ञ और अल्पज्ञान वाला है। इसलिये वह अपनी जगत्-

माता को भूल कर जब ज्ञानरहित अपवित्र जड़ प्रकृति के पदार्थों से अधिक सम्बन्ध करता है तो उसमें अज्ञान की मात्रा अधिक बढ़ जाने के कारण अज्ञान युक्त कर्म करने से दुःख आता है और जब ज्ञान पवित्रता का भंडार या जगत्-माता से सम्बन्ध जोड़ता है तो ज्ञान की वृद्धि से ज्ञान या नियम पूर्वक कर्म करने से सुखी होता है। और प्रतिदिन इस अभ्यास को बढ़ाकर उस आनन्द के स्रोत से जा मिलता है। अर्थात् जन्म मरण रूप दुःखों को काट कर मुक्त हो जाता है।

क्योंकि मनुष्य के पास उसकी पूंजी तो अपने कर्म ही हैं। (शेष सब कुछ ईश्वर का है) जीव उलटा कर्म करे या सीधा ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। चाहे जड़ प्रकृति से सम्बन्ध जोड़े, चाहे ईश्वर से, परन्तु जगत् माता अपने मातृ-प्रेम के स्वभाव से ही अपनी इस जीवरूप सन्तान के ज्ञान की वृद्धि व सुख प्राप्ति के लिये आदि सृष्टि में ही वेदरूप ज्ञान ऋषियों द्वारा प्रदान कर देती है। और समय समय पर ऋषि मुनि महात्माओं द्वारा उसे वेद ज्ञान का व्याख्यान भी कराती रहती है। जिस से उस वेद ज्ञान में दिये हुए सृष्टि नियमों का ज्ञान प्राप्त करके और तदनुकूल ज्ञानपूवक कर्म करके जीव सुख को प्राप्त हो और दुःखी न हो।

परन्तु जब संसार में हम आत्मज्ञान (Self knowledge) या वेद ज्ञान के प्रचारक ही अज्ञानी हो जाते हैं, अथवा

उनकी न्यूनता हो जाती है, अर्थात् जब जीवात्मा प्रकृतिवाद (Materialism) का अधिक पुजारी बन जाता है तो जीवात्मा का अन्तःकरण या मनरूप शीशा, जिसके द्वारा जीव ने ईश्वरीय ज्ञानरूप आकाश को ग्रहण करना और अपने स्वाभाविक गुण पवित्रता को स्थिर रखकर सुखी होना था, जड़ प्रकृति के निरन्तर संग में अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के संस्कारों से दब जाता है और उसके अज्ञानरूप पर्दे आ जाते हैं और इस प्रकार जीव की वा उसकी जगत्माता अथवा आनन्द के बीच में अज्ञान की एक पहाड़ी खड़ी हो जाती है। जिसके फल स्वरूप वह अपने स्वरूप को भूल कर अपने को प्रकृति का एक अंग या शरीर ही समझने लग जाता है। शरीर की पवित्रता सुन्दरता वा शक्ति को ही अपनी पवित्रता वा सुन्दरता समझ कर उसके संग्रह में ही अपना समस्त जीवन अर्पण कर देता है; और इस उलटे झूठे ज्ञान का फल दुःख प्राप्त करता है।

परन्तु ओवरकोट बनीयान कमीज आदि वस्त्रों को प्रतिदिन धोकर या मूल्यवान् ब्रुशों से दिन में कितनी ही बार साफ करने से अथवा प्रतिदिन कई नये रेशमी आदि वस्त्र पहनने या बदलने से जैसे शरीर की मलिनता वा दुर्गंध दूर नहीं हो सकती जब तक शरीर को शुद्ध जल से स्नानन कराया जावे। और जैसे किसी बच्चे के पावों की बिवाई फट-जाने पर उसके माता-पिता यदि दिन में कई बार नये नये

प्रकार के बूट वा रेशमी बहुमूल्यवान् जुराबें उसको पहना दिया करें तो बच्चे के पावों का दर्द दूर नहीं हो सकता है ऐसे ही केवल शरीर को दिन में कई बार स्नान कराने, इतर फूल लगाने और सिर के बालों वा मुख आदि अङ्गों के सजाने से या कई प्रकार के भोजन वा मूल्यवान् औषधियों के खाने से जीवात्मा, जिसको 'मैं' कहते हैं, जो वास्तव में इस शरीर रूपी नगरी का स्वामी है, पवित्र सुन्दर तथा सशक्त नहीं बन सकता। अर्थात् जीवात्मा तो वैसे का वैसा ही, अज्ञानी निर्बल वा मलिन बना रहता है।

जैसे हिन्दुसमाज के होलियों के त्यौहार पर कोई शराबी भङ्गी जुआ खेलने वाला व्यभिचारी केवल हनूमान जी का चेहरा मुख पर बांध लेने से अथवा राम, कृष्ण, अर्जुन आदि के मुकुट पहन लेने से हनूमान या राम अथवा कृष्ण और अर्जुन नहीं बन सकता और न ही उनके गुण उसमें आ सकते हैं और न ही केवल गांधी टोपी और लंगोटी पहनने से कोई महात्मा गांधी या उसका सच्चा अनुयायी बन सकता है। ऐसे ही शरीर की पवित्रता या सजावट या काले पीले गेरवे वस्त्र धारण करने से जीवात्मा, का अज्ञान दूर होकर पवित्रता वा शक्ति तथा सुन्दरता तथा आनन्दादि ईश्वरीय गुण उसमें नहीं आ सकते हैं। जबतक उन साधनों का उपयोग न किया जावे जिनके द्वारा जीवात्मा में पवित्रतादि गुण आ सकते हैं। क्योंकि शरीर अथवा वस्त्रों के पवित्र

करने के साधन अशुद्ध जीवात्मा की पवित्रता के कार्य में नहीं आ सकते) क्योंकि जैसे दांतन न करने या कई दिन स्नान न करने से दांतों वा शरीर पर अधिक मलिनता चढ़ती जाती है ऐसे ही जीवात्मा भी प्रतिदिन अधिक मलीन होता जाता हैं। अर्थात् आनन्द के स्रोत से दूरी बढ़ती जाती है, और जड़ प्रकृति के गुणों की अधिकता से दुःख कष्ट वा जेलखानों में भी वृद्धि होती जाती है। इसलिये मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि आत्मज्ञान (Self knowledge) को प्राप्त करके अपने को शुद्ध पवित्र करके उस आनन्द के स्रोत ईश्वर के समीप होने के लिये पुरुषार्थ करे।

यदि किसी व्यक्ति ने मनुष्य जन्म में आकर यह कर्म नहीं किया (चाहे उसने और अनेक प्रकार के कार्य किये हों) तो उसका मनुष्यजन्म निष्फल है और उसको अंत में पश्चात्ताप करना ही पड़ेगा। जैसे एक यात्री अपने लक्ष्य या मंज़िल के समीप होने के स्थान पर अज्ञानवश दूर चला जाता है, क्योंकि पूर्व की ओर जाने के बजाय पश्चिम की ओर खूब जोर से दौड़ता हुआ जा रहा है। जैसे इस यात्री का समय वा परिश्रम धन वा शक्ति निष्फल है और पश्चात्ताप का कारण बनती है, वही अवस्था आत्मज्ञान से अनभिज्ञ पुरुष की है। यदि कोई यह कहे कि मैंने कभी धर्म ग्रंथो का स्वाध्याय नहीं किया और न ही कभी कर्त्तव्य वा धर्म कर्म के जानने वालों का सत्संग किया है इसलिये मुझे दण्ड क्यों मिले

जब कि मेरा अपराध नहीं है। तो उसका उत्तर यह है कि Ignorance of Law is no excuse, अर्थात् कानून को न जानना, क्षमा का कारण नहीं हो सकता।

जैसे किसी राजा के राज्य में सारी प्रजा के लिये राजा के कानून या नियमों का ज्ञान होना आवश्यक है और कर्त्तव्य है। क्योंकि जब राज्य के नियमों की पुस्तकें विद्यमान हैं और राज्यनियमों के ज्ञान कराने वाले राज्यकर्मचारी भी वर्तमान हैं और राज्यनियम पत्रों में छपवा दिये जाते हैं ढिंढोरे भी पिटवा दिये जाते हैं। परन्तु यदि एक चोरी करने वाला मनुष्य न्यायालय में जाकर यह कहे कि चोरी करना दण्डनीय है परन्तु मैं राज्य नियम से अनभिज्ञ हूँ तो दण्ड से बच नहीं सकता। ऐसे ही जीवात्मा को जब यह ज्ञान हो गया है कि इस राज्य रूप संसार का एक स्वामी है और मैं उसकी सन्तान हूँ तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस स्वामी या पिता के नियमों को यत्न करके जाने और उनके अनुकूल जीवन व्यतीत करे अर्थात् उसके दिये पदार्थों वा शरीर आदि का उसकी आज्ञानुसार उपयोग करके उस स्वामी या पिता की प्रसन्नता प्राप्त करे, जिसके राज्य या गृह में उसका पालन पोषण और रक्षा हो रही है।

यहां पर अब प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन से साधन हैं जिनका पालन करके जीव शुद्ध पवित्र होकर उपरिलिखित कर्त्तव्य कर्मों को यथार्थ रूप में जान सके और धोखा खाकर

दुःखी न हो। ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं ने इस लक्ष्य की प्राप्ति तथा आत्मपवित्रता के लिये कई साधन बतलाये हैं।

परन्तु मुख्य साधन एक ही है जिसका साधारण से साधारण जनता को भी ज्ञान है। इस एक के यथार्थ पालन से सब विकार या मलिनता अपने आप दूर हो जाती हैं जैसा कि एक अंगरेज लेखक ने कहा है कि-

Just as health is to the body, same is honesty to the soul.

अर्थात् जैसे शरीर के लिये स्वस्थ होना आवश्यक है तब ही उनमें शक्ति या सुन्दरता आदि गुण आ सकते हैं, नहीं तो शरीर निकम्मा है। ऐसे हो जीवात्मा के लिये सत्यव्यवहार-प्रिय होना परम आवश्यक है। इसी द्वारा मनुष्य सुन्दरता वा शक्ति को प्राप्त कर लेता है।

दृष्टान्त-एक मनुष्य जिसमें जुआ चोरी, शराब पीना आदि सब बुराइयां थीं उसने एक साधु के पास आकर कहा कि मुझे भी अपने जैसा सन्त बना दो। परन्तु मेरी शर्त यह है कि मैं ये अवगुण नहीं छोड़ूंगा और जो कुछ भी आप आज्ञा देंगे उसको सहर्ष स्वीकार करूंगा। साधु ने कहा कि यह एक बात तुम्हारी मैं मान लेता हूँ परन्तु तुम्हें मेरी एक बात माननी होगी। इसने साधु की वह बात स्वीकार करली। ऐसे हीनचरित्र मनुष्यों में एक विशेष देखा गया है कि चाहे जान भले ही चली जावे परन्तु वे अपनी प्रतीज्ञा को भंग नहीं करते अर्थात् अपने वचन के पक्के होते है।

साधु ने कहा कि मेरी एक ही बात है कि 'सदा सत्य बोला करना' फिर तुम संत की पदवी के अधिकारी बन जाओगे। उस दुराचारी मनुष्य ने सत्य बोलने की प्रतीज्ञा करली। परन्तु उसी रात्रि को जाकर चोरी भी कर ली और राज्य कर्मचारियों के पूछने पर सत्य कह दिया कि चोरी मैंने की है, इस लिये उसको सत्य बोलने के कारण यह समझकर कि यह एक सीधा साधा भला आदमी है अज्ञानता या भूल से चोरी हो गई है, नहीं तो कौन चोर सत्य बोलता है ?, कम दण्ड दिया गया। इसी प्रकार इसने विचारा कि यदि मैं शराब पीऊंगा तो सब के सामने लज्जित तथा अपमानित होना पड़ेगा क्योंकि मैं सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर चुका हूं इस लिये उसने अपने सब बुरे कर्म छोड़ दिये और फिर उस संत के सत्संग में प्रतिदिन जाने लगा और वह इसी प्रकार सत्य भाषण के अभ्यास से ही एक सर्व श्रेष्ठ पुरुष बन गया।

महात्मा पुरुषों ने जीवात्मा की दूध से उपमा दी है। दूध सब दूकानों पर एक जेसा होता है परन्तु जिस में पानी मिलाया जाता है वह खराब और बदनाम भी हो जाता है और उसका कोई ग्राहक नहीं बनता; अपितु जिस दूकान पर मिलावट का दूध होता है वह दूकान भी बदनाम हो जाती है। क्योंकि ऐसा दूध उलटा रोग का कारण होता है, आग पर तापने पर भी ऐसा दूध स्वादु नहीं बनता नाहीं मलाई और नां ही मक्खन निकलता है और न कोई मिठाई

ही बन सकती है परन्तु दूध अपने वास्तव रूप में पवित्र हो जिस दूकान पर बिकेगा वह दूकान नेकनाम होगी और वह दूध गुणकारी और स्वास्थ्य का देने वाला होगा। ऐसा दूध आग पर तपाने से भी स्वाद ही होता है और मलाई और मक्खन भी अच्छा निकलता है। उत्तम २ मिठाई में परिवर्तित होकर बहुत मूल्यवान् बन जाता है, और बड़े २ विद्वान् धनी शासकों के थाल में जाकर आदर प्राप्त करता है। ऐसे ही यदि जीवात्मा शुद्ध पवित्र हो और प्रभु-भक्ति स्वाध्याय तथा सत्संग रूप अग्नि में तपाया जावे, तो जहां परिवार देश वा संसार का एक श्रेष्ठ माननीय नेता बन जावेगा वहां शुद्ध पवित्र दूध वाले की दूकान की भांति अपने समाज देश और परिवार के मान को भी ऊंचा करके मूल्यवान् बना देगा।

परन्तु जिस परिवार, समाज, जाति, देश के व्यक्तियों का आत्मा जलमिश्रित दूध की भांति निर्बल पतला मिलावट वाला और मलीन है या जिस दूध में से उसका सार वीर्य रूप मक्खन निकल गया है और उस पर भी यम नियम आदि तप रूप अग्नि के ऊपर चढ़ने से इंकार करे और प्रभु भक्ति स्वाध्याय सत्संग की अग्नि के समीप भी न जावे, और उसको जिज्ञासा ही न हो तो वह व्यक्ति समाज देश जाति का किस प्रकार उत्तम और मूल्यवान् मनुष्य बन सकता है और उसके अंदर आकर्षण और सुगंधि कैसे आवे। जैसे खोटा रुपया सर्वत्र निरादर पाता है और फिर अग्नि पर भी न चढ़े तो

उसका मूल्य बाजार में कुछ नहीं पड़ता और ऐसे खोटे-खोटे रुपयों से न कोई दूकान ही चल सकती है। परंतु एक कागज के नोट पर जब राजा की मोहर लग जाती है तो सब जगह मान पाता है और दूकान भी चलती है वह और उसका परिवार भी सुख प्राप्त करता है और ईश्वर भक्त कहलाता है। ऐसे ही जिस जीवात्मा के शुद्ध पवित्र अंतःकरण रूप कागज पर सत्य और ईश्वर भक्ति की मोहर लग जाती है, उसके लोक परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

इस लिये जब जीव को ईश्वर वा अपना भी ज्ञान हो जावे और यह निश्चय हो जीवे कि ईश्वर अपनी संतान अर्थात् जीवों के पालन पोषण वा कल्याण के लिये मातृवत् सृष्टि रचता है तो जीव का पुत्रवत् कर्तव्य हो जाता है कि अपनी जगत्-जननी माता की आज्ञानुसार उसके बनाये पदार्थों का सदुपयोग करता हुआ उन पदार्थों को अर्थात् सृष्टि को संवारे अर्थात् उसको प्राकृतिक अवस्था में पवित्र और सुन्दर रहने दे और इस कार्य में माता का सहायक हो अर्थात् माता के सृष्टि रूप मन्दिर और उसके अन्दर रक्खी वस्तुओं को पवित्र रक्खे, गन्दी न करे, बिगाड़े नहीं जिससे जीन के किसी मन वचन कर्म से यह सृष्टि, माता के दूसरे पुत्र पुत्रियों के लिये भी रोग और दुःख का कारण न बने। यही इस उत्तम मनुष्य योनि में आकर जीव का दूसरा कर्तव्य कर्म है।

वही उपरि लिखित विधि, संसारिक माता की भांति जगत् माता को प्रसन्न करने और उसका आशीर्वाद लेकर इस संसार में सुखी जीवन व्यतीत करने की है । क्योंकि जगत् माता अपने पुत्रों को सृष्टि के नाना पदार्थों को उसकी आज्ञा-नुसार सदुपयोग करते देख कर संसारिक माता की भांति प्रसन्न होती है यह उसका स्वभाव है ।

[६]

तासरा कर्तव्य

शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्

उपरिलिखित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जीव का सब से आवश्यक साधन या मन्त्र उसका शरीर ही है। जैसा कि कहा गया है कि 'शरीरमाद्य', खलु धर्म-साधनम्' अर्थात् शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है। क्योंकि शरीर के स्वस्थ नीरोग और सशक्त हुए बिना जीव के न तो संसारिक उन्नति तथा प्रभुभक्ति ही हो सकती हैं। और न वह अपना सुधार ही कर सकता है और न संसार के लिये ही उपयोगी हो सकता है जैसे कि किसी ऊर्दू के कवि ने कहा है कि—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम्। गये दोनों जहांनों के कामों से हम। न इधर के रहे न उधर के रहे।

क्योंकि शरीर की निर्बलता ही सब रोगों और दरिद्रता

तथा बुराइयों की जननी है। जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् यह आत्मा बल हीन मनुष्य से प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि शारीरिक उन्नति के बिना आत्मिक मानसिक तथा सामाजिक कोई भी उन्नति नहीं हो सकती, और ना ही यह संसार एक सुगन्धित उत्तम वाटिका का रूप धारण कर सकता है जैसा कि ईश्वर और उसकी प्रजा जीवात्मा दोनों का मन्तव्य है और जिसके लिये सर्व प्राणी यत्न करते प्रतीत होते हैं।

वैसे तो संसार को सुखी बनाने के लिये अर्थात् स्वर्ग या ईश्वरीय राज्य स्थापना करने के लिये शरीर मन और आत्मा तीनों के उन्नत होने की आवश्यकता हैं। इन में से किसी एक की निर्बलता भी किसी व्यक्ति या परिवार समाज जाति को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा डालती है। परंतु किसी सिपाही के पास यदि मजबूत तीक्ष्ण हथियार न हों तो न वह अपनी ही रक्षा कर सकता है और न दूसरों की अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन नहीं कर सकता, चाहे सिपाही कितना ही चतुर और जागता हुआ पहरा दे रहा हो। और जैसे मलिन तख्ती या कागज़ पर टूटी हुई कलम से बड़ा विद्वान् भी कुछ नहीं लिख सकता, और जैसे किसी कच्चे घड़े में दूध डालने पर घड़ा भी थोड़ी देर में टूट जाता है और दूध भी मिट्टी में मिल जाता है न कि पक्के घड़े में। ऐसे ही किसी स्वस्थ या शक्तिशाली और पवित्र शरीर में वास करके ही जीव अपनी पवित्रता वा आत्मिक बल को स्थिर

रख कर एक पवित्र और बलवान् मन बुद्धि के साथ ही संसार रूपी ईश्वर की वाटिका को अपने पवित्र विचार वा वचन तथा कर्म से सुगन्धित कर सकता है। जैसे कि किसी अङ्गरेज लेखक ने कहा कि 'A Sound mind in a sound body' अर्थात् एक शक्तिशाली आत्मा या मन एक शक्तिशाली शरीर में ही वास करता है।

प्रत्येक जीव के लिये एक लम्बी यात्रा सामने उपस्थित है, जो वि यदि जीव निरन्तर सावधानता से सीधे मार्ग पर चलता ही जावे तब भी अनेक जन्म लगेगें। परन्तु इस शरीर रूपी गाड़ी पर जीव सवार है वह यदि निर्बल है थोड़ी २ देर के पश्चात् मरम्मत चाहता है। शरीर रूप मोटर में छेद है, अथवा नालियों के साफ़ न होने से तैल जम जाता है तो अच्छे से अच्छा ज्ञानी ड्राइवर या बुद्धि रूप सारथी भी गाड़ी को मंजल अर्थात् लक्ष्य पर पहुंचाने से असमर्थ रहेगा। यात्रा लम्बी होगी मार्ग में पड़े यात्री की भांति दुःखी होगा और पश्चत्ताप करेगा इसलिये जीव का कर्तव्य है कि इस शरीर रूप गाड़ी को स्वस्थ वा नीरोग रखने का यत्न करे और ऐसे साधनों का उपयोग करे जिस से यह गाड़ी बहुत काल तक समर्थ रह कर अधिक से अधिक यात्रा कर अपने स्वामी जीवात्मा को इसी जन्म में लक्ष्य के निकट पहुंचाने में समर्थ हो सके। जिससे जीव को अपनी निरर्थक यात्रा के कारण दुःखी न होना पड़े।

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से साधन हैं जिनसे यह शरीररूप गाड़ी बहुत काल तक नीरोग सुन्दर और शक्तिशाली बनी रह सकती है। और उन साधनों को सदुपयोग में लाने की विधि क्या है जिस से उन साधनों का यथार्थ रूप में उपयोग करके शरीर को स्वस्थ रख सकें। इन साधनों के वर्णन करने से पूर्व दो सिद्धान्तों का वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिनके जान लेने पर पाठकों को शरीर के स्वस्थ वा नीरोग रखने के साधनों को समझ लेना और उपयोग में लाना सुगम हो जावेगा।

प्रथम सिद्धान्त—जो वस्तु जिस से बनी है उसी से उसकी मरम्मत होता है जैसे किसी मिट्टी के घड़े के छेद को बन्द करना हो तो मिट्टी लगा कर ही वंद किया जा सकता है, ऐसे ही लकड़ी या लोहे या पीतल के पात्र या बक्स को लकड़ी या लोहे से ही मरम्मत किया जा सकता है, ऐसे ही इस शरीर रूपी गाड़ी को भी जिन परमाणुओं से यह शरीर बना है उन से ही मरम्मत किया जा सकता है।

द्वितीय सिद्धांत—किसी वस्तु में सुन्दरता व शक्ति का ह्रास क्यों होता हैं। या यूं कहिये कि रोग और निर्बलता तथा कुरूपता की उन्नति कैसे होती है। इन सब का कारण अपवित्रता है। जहां अपवित्रता है, वहां पर निर्बलता है। और जहां पर निर्बलता है वहां पर ही रोग और दुःख है। मसल मशूर है कि सब प्रकार के रोग प्रथम निर्बल को ही पकड़ते हैं। और जहां

निर्बलता तथा रोग होगा वहां पर अवश्य ही अल्पायु होगी, और यात्री की यात्रा लम्बी न होगी। जैसे जितना कपड़ा (विशेष करके शरीर के साथ रहने वाला वस्त्र) अधिक मलिन होगा उतना ही अधिक निर्बल और अल्पायु वाला होगा, उतना ही पहनने वाले को मलिनता के कारण खारिश और दुर्गन्ध का दुःख होगा। वर्षा सर्दी गर्मी से रक्षा न होने का कष्ट और शीघ्र २ नया वस्त्र खरीदने के कारण धन उपार्जन का कष्ट; और पवित्र महात्माओं की सङ्गति में न बैठने के अयोग्य होने का कष्ट होगा। जो मनुष्य वस्त्र मैले रखता है वह इन कष्टों से किसी प्रकार भी बच नहीं सकता और जितना कोई वस्त्र को पवित्र रक्खेगा उतना ही उसका वस्त्र टिकाऊ और दीर्घ आयु वाला और सुख-दायक होगा और उतना ही वस्त्र का पहनने वाला नीरोग और पवित्र महात्माओं की सङ्गति में बैठ कर लाभ उठा सकेगा।

उपरिलिखित दृष्टान्त से सिद्ध है कि शरीर की मलिनता या अपवित्रता ही शरीर के रोगी निर्बल कुरूप वा अल्प आयु होने के कारण है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शरीर की मलिनता या अपवित्रता क्या वस्तु है जिससे उसका इलाज किया जावे। प्रतिदिन दृष्टिगोचर होता हैं कि यद्यपि बाहर की पवित्रता अर्थात् शरीर को स्नानादि कराने व तैल फुलेल लगाने वाले और पवित्र रेशमी वस्त्रादि प्रतिदिन बदलने वाले या अच्छे शाही मंदिरों में रहने वाले ही प्रायः

बहुत रोगी और अल्प-आयु वाले होते हैं। इसलिये प्रथम यह पता लगाना उचित होगा कि रोग किसको कहते।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि जो वस्तु जिससे बनी है उसी से उसकी मरम्मत होती है और यह सब को ज्ञात है कि यह शरीर अग्नि वायु आदि पांच तत्त्वों से या वैद्यक की परिभाषा में वात, पित, कफ से बना है। शरीर के स्वस्थ होने का अर्थ यह है कि जिस मात्रा में सृष्टि रचयिता जगदीश्वर ने इन पांच तत्त्वों या वात, पित्त, कफ के परमाणुओं के मेल से शरीर को बनाया है उसी मात्रा में इन परमाणुओं को स्थिर रखना ही स्वास्थ्य या नीरोगता है। क्योंकि जब किसी शरीर के अन्दर इन तत्त्वों में से किसी को अधिकता या न्यूनता हो जाती है तब ही शरीर रोगी कहा जाता है।

जैसे किसी व्यक्ति को ज्वर होने का तात्पर्य यह है कि शरीर में अग्नि की मात्रा प्राकृतनियम से अधिक हो गई है और वैद्य या डाक्टर शरीर की अग्नि को कम करने की औषधि देकर अग्नि को उसकी प्राकृत सम (Normal) अवस्था में अर्थात् ९८३ डिगरी में लाने का प्रयत्न करता है जो साधारणतया स्वास्थ्य की अवस्था है। ऐसे ही जब किसी व्यक्ति के शरीर में वायु जल अथवा वात और कफ की अधिकता होती है तब ही वह रोगी कहा जाता है, तो फिर गर्म खुश्क आदि औषधि देकर, वैद्य या डाक्टर उस वायु या जल के परमाणुओं को कम करने और प्राकृतसम अवस्था

में शरीर को लाने का यत्न करता है। तो अब यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर के बनाये नियम वा मात्रा के अनुसार अर्थात् प्राकृत या (Normal) अवस्था में शरीर के परमाणुओं को रखना ही स्वास्थ्य नीरोगता पवित्रता और सबलता है। और इस प्राकृत नियम के विपरीत शरीर में परमाणुओं की न्यूनता या अधिकता ही निर्बलता है।

इसलिये जो व्यक्ति या जाति जहां तक इस नियम के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करती है, या करेगी वहां तक ही वह व्यक्ति या जाति शक्तिशाली वा सुन्दर नीरोग और दीर्घ आयु को भोग सकेगी और जिन्होंने इस नियम के अनुकूल जीवन व्यतीत किया है उनकी स्वस्थ नीरोग और लम्बी आयु होती रही है अब भी होती है। इस के कुछ दृष्टांत पाठकों के ज्ञान के लिए आगे लिखे जावेंगे। और जो व्यक्ति इस नियम के पालन का ध्यान नहीं रखते या कम रखते हैं चाहे वे कितने ही बड़े विद्वान् धनी बैरिस्टर या स्वयं डाक्टर या वैद्य ही क्यों न हों, वे नीरोग लम्बी आयु नहीं भोग सकते और उनकी अपनी दूसरी विद्या इन कार्य में उनकी कोई सहायता नहीं कर सकती। क्योंकि प्राकृत नियम अटल हैं। वे किसी का पक्षपात नहीं करते और ऐसे व्यक्ति जिस परिवार या जाति में अधिक होंगे वह परतन्त्रता के दुःख से बच नहीं सकती। क्योंकि जो रोगी है वह निर्बल है इसलिये परतन्त्र है और जो स्वयं रोग के अधीन है वह

जाति देश को स्वतंत्रता कैसे दिला सकता है। इसलिये इस नियम के अनुकूल चलना प्रत्येक स्वतंत्रता या सुख के चाहने वाले स्त्री पुरुष का कर्त्तव्य है अब यह तो सिद्ध हो गया कि शारीरिक उन्नति प्राकृत नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने से होगी परन्तु अब विचार यह है कि वे कौन से साधन हैं कि जिन से इस शरीर का पालन पोषण होता है जिससे उनको ईश्वरीय या प्राकृत नियमों के अनुकूल उपयोग में लाकर इस शरीर को बहुत काल तक पवित्र और निरोग स्वस्थ रक्खा जा सके।

शरीर रक्षा तथा स्वास्थ्य रक्षा मुख्य साधन तीन हैं। पहिला भोजन, दूसरा वस्त्र, तीसरा स्थान। इन तीनों साधनों का उपयोग करते हुए मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि कोई मूर्ख स्वामी भी अपने कारखाने या दूकान में निष्प्रयोजन किसी सेवक अथवा गधे को नहीं रखता और न निर्थक वेतन देता है। तो उस पूर्णज्ञानी सृष्टि-रचयिता ने हमको सर्वोत्तम मनुष्य शरीर रूप गाड़ी जिसके तुल्य या उत्तम और कोई वस्तु या गाड़ी इस संसार रूपी कारखाने में उसके पास नहीं है। और जिसकी सेवा वा पालन पोषण के लिये उसके अनन्त प्रकार के पदार्थ फूल और गौ आदि पशु अथवा सूर्य चन्द्र शक्तियों को प्रत्येक समय उपस्थित कर रक्खा है। क्या हमको निष्प्रयोजन दी हैं? ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि

इस अनमोल शरीर रूप गाड़ी को उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही उपयोग में लावे, जिस लक्ष्य का वर्णन ऊपर लिखे दो कर्त्तव्यों में किया जा चुका है। परन्तु इस कार्य में सफलता तब ही हो सकेगी जब जिन परमाणुओं से उपरिलिखित साधन बनते हैं तीन साधन अर्थात् (भोजन वस्त्र वा स्थान जिन से शरीर की रक्षा वा पालन पोषण होता है) वे प्राकृत नियमानुकूल और सात्विक हों। क्यों मनुष्य का लक्ष्य ईश्वर की समीपता है, वहां पूर्ण पवित्रता है। अर्थात् किसी भी प्रकार की मैल या मिलावट नहीं और इसी पवित्रता को सत् कहते हैं। इस लिये इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य का भोजन वस्त्र स्थान सात्त्विक ही होना चाहिये। यह प्रकृति का एक अटल नियम है, कि प्रत्येक वस्तु खट्टी कड़वी मीठी तथा फ़ीकी अपने अनुकूल परमाणुओं को ही आकर्षित करती है। इसलिये सत्त्वगुण प्रधान शरीर या मन वा बुद्धिरूप यन्त्रों से ही जीवात्मा उस पवित्रता के स्रोत सत् स्वरूप ईश्वर की ओर आकर्षित होकर किसी समय समीपता को प्राप्त कर सकता है। यहां यह वर्णन कर देना भी निष्प्रयोजन न होगा कि मनुष्य के भोजन से ही रस बन कर रक्त बनता है, और रक्त की सूक्ष्म भाग वीर्य और उससे सूक्ष्म भाग को ओज कहते हैं। जिस मनुष्य के शरीर का भार डेढ़ मन हो उसका रक्त शरीर का बीसवां भाग अर्थात् तीन सेर होता है। और ४० तोला रक्त के बराबर का १ तोला वीर्य होता है। इसलिये डेढ़ मन वज़न वाले

शरीर में केवल ६ तो० वीर्य होता है और जितना उसकी हथेली में जल आ सकता है उतना उसके शरीर में ओज होता है। जिस से किसी मनुष्य की आकृति में कान्ति शोभा प्रतीत होती है, और ओज के सूक्ष्मतम भाग से ही मन वा बुद्धि बनते हैं। अर्थात् सात्त्विक राजस या तामस जैसे भोजन मनुष्य करता है वैसे ही उसको शरीर की इन्द्रियां मन वा बुद्धि बनते हैं। और यह प्रत्यक्ष है कि जैसे किसी के हथियार या यन्त्र हों वैसी ही उसको सफलता होती है। और वैसी ही शक्ति को यह अपनी ओर अकर्षण कर सकता है। जैसे लुहार के मोटे औज़ारों से घड़ी के पुरजे नहीं पकड़े जा सकते। घड़ी के पुरजों को पकड़ने या साफ करने के लिये बारीक सूक्ष्म-औज़ार चाहिये। ऐसे ही उस पवित्रतम और सूक्ष्मतम शक्ति ईश्वर को जानने या पकड़ने के लिये जीवात्मा के मन-बुद्धि-रूप यन्त्र भी अति सूक्ष्म ही होने चाहिये। जिससे उसके सूक्ष्म वा पवित्र वेदरूप ज्ञान अथवा आज्ञाओं को जान कर यथार्थ कर्त्तव्य पालन कर सकें, क्योंकि सत्त्वगुणी परमाणु ही सब से सूक्ष्म और पवित्र होते हैं। इसलिये मनुष्य का भोजन सत्त्वगुणी ही होना आवश्यक है। क्योंकि सत्त्वगुण में कुछ मलिनता का नाम रजोगुण और रजोगुण से भी अधिक मलिनता का नाम तमोगुण परमाणु है।

अब विचारना यह है कि इस संसार के पदार्थों में से कौन सा भोजन वस्त्र या स्थान इस लक्ष्य की सिद्धि में मनुष्य

का सहायक हो सकता है और इस विषय में निरन्तर नीरोग दीर्घ-आयु भोगने वाले महात्माओं और आजकल के पश्चिमीय वैज्ञानिक तथा डाक्टरों की क्या सम्मति है।

भोजन का विषय

जिस परमज्ञानी सृष्टिरचयिता ने यह शरीर बनाया है, उसने मनुष्य के लिये भोजन भी नियत किया है। यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का ईश्वरदत्त भोजन माता का दूध है। जो कि मनुष्य के जन्म लेने से पूर्व ही माता के स्तनों में आ जाता है। यदि परमेश्वर को कोई और भोजन लाभदायक प्रतीत होता तो रक्त या किसी और प्रकार के रस के रूप में माता के स्तनों में बना देता उसके लिये कोई कठिन बात न थी। इसी एक दृष्टान्त से ही ज्ञात होता है कि मनुष्य प्रत्येक प्रकार की उन्नति अर्थात् आत्मिक मानसिक तथा शारीरिक उन्नति के लिये माता के दूध से बढ़कर रोगनाशक और लाभप्रद और कोई भोजन नहीं है। इसलिये वैदिक काल के ऋषि मुनि शास्त्रकार और ईश्वर, जीव, तथा वेदविद्या का साक्षात्कार करने वाले पतञ्जलि आदि ऋषि जिनके तुल्य मेधावी बुद्धि और मस्तिष्क रखने वाला और संसार के कल्याण के लिये पुस्तकों द्वारा लोक परलोक की सिद्धि के साधन बतलाने वाला आज तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ, दूध को अमृत भोजन कहते हैं। किसी कवि ने पतञ्जलि के विषय में कहा है कि—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनाम् पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

अर्थ—पतञ्जलि मुनि ने योगदर्शन द्वारा चित्त की मलिनता, महाभाष्य द्वारा वाणी की मलिनता, और वैद्यक द्वारा शरीर की मलिनता को दूर करने का उपदेश दिया है। इन मुनिप्रवर पतञ्जलि को मैं अञ्जलिवद्ध होकर नमस्कार करता हूं।

ऋषि भी उत्तम सात्विक भोजन मनुष्य के लिये गौका दूध ही बतलाते हैं। जो कि माता के दूध के समान ही गुणकारी होता है, बशर्ते कि गौ रोगी और गन्दा भोजन खाने वाली न हो। और हमारे भारतीय पूर्वज विद्वान् और साधारण प्रजा भी वैदिक काल से लेकर महाभारत के काल तक विशेषतया इसी दूध और जंगल के कन्दमूल और फलादि का आहार किया करते थे। आयुर्वेद विज्ञान के ज्ञाता भी यही बतलाते हैं कि गौ के दूध से दूसरे दरजे पर फल आदि का भोजन लाभप्रद भोजन है। पश्चिमीय विद्वानों ने बहुत काल तक मनुष्य के भोजन के विषय में निरीक्षण की ओर ध्यान नहीं दिया और जिस भोजन का सेवन उनके पूर्वज किया करते थे प्रायः वैसा ही भोजन सेवन करते रहे, परन्तु कुछ काल से पश्चिमीय विद्वानों और डाक्टरों ने भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त समय देकर निरीक्षण किया है।

दृष्टान्त संख्या १—डाक्टर हेन ने इस विचार से कि भारतवर्ष की वैदिककाल की प्रजा की आयु आजकल के मुकाबले में अधिक क्यों होती थी। (क्योंकि पश्चिमीय सभ्यता

यद्यपि इस समय उन्नति के शिखर पर पहुंची हुई है तो भी प्रजा की औसत आयु ५५ वर्ष से अधिक किसी भी पश्चिमीय देश में नहीं हो सकी) और इसके अतिरिक्त जो सूक्ष्म बुद्धि भारतवर्ष के विद्वानों को प्राप्त थी, जिससे वे ईश्वर और जीव जैसी सूक्ष्म शक्ति को भी हस्तामलकवत् साक्षात् कर सके अर्थात् जैसे हाथ पर रक्खे आमले को मनुष्य सक्षात् देखता है । इस भारतवर्ष के विद्वानों की सूक्ष्म बुद्धि के कारण का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, डाक्टर हेन ने २६ वर्ष तक मनुष्य के भोजन के विषय का निरीक्षण किया और वह इस परिणाम पर पहुंचा है कि भारतवर्ष के विद्वानों की बुद्धि की विशेषता गौ के दूध के सेवन के कारण थी ।

दृष्टान्त संख्या २—कुछ काल से ब्रिटिश गवर्मेन्ट की आज्ञासे इङ्गलैण्ड के बड़े २ डाक्टरों ने भी भोजन विषय पर विचार किया है, अतएव उनके निरीक्षण के परिणाम स्वरूप इङ्गलैण्ड की पार्लियामेंट में एक प्रश्न उठाया गया और उसका उत्तर उस समय के प्रधान मन्त्री ने जो दिया उसकी नक़ल लाहौर के दैनिक पत्र ट्रिब्यून में तिथि १० नवम्र १६३८ में छपी थी। वह पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिये नीचे लिखी जाती है।

In reply to National labour leader Major Attlee's Criticism on king's speach in House of Commons, the Prime Minister Mr. Chamberlain said. "In connection with

nutriton the ministry of health were engaged in more far-reaching and comprehensive enouiries with food habits of the people than qfever made before in this or any other country, one of the earliest measures in the new session wonld deal with milk and its main principle wonld be to encourage the consumption of liquid milk in the interest both of the former and of national health.

"मजदूर पार्टी के नेता मेजर एटली के सम्राट् के भाषण की समालोचना के उत्तर में मि० चैम्बरलेन ने कहा कि सरकारी स्वास्थ्य विभाग का मन्त्रिमण्डल मनुष्यों के स्वास्थ्य को पुष्टि देने वाले भोजन आदि के विषय में गहरी जांच पड़ताल कर रहा है। ऐसी जांच अब तक न इस देश में और न किसी और देश में हुई है। हाऊस आफ़ कामन्स के आगामी अधिवेशन में दूध के सम्बन्ध में नियम बनाए जायंगे। नए नियमों द्वारा दूध की खपत बढ़ाकर जाति के स्वास्थ्य को उन्नत करने का प्रयत्न किया जायगा।"

इस प्रकार कुछ काल हुआ कि लण्डन के हैल्थ आफिसर मिस्टर न्यूमैन Mr. Newman ने दूध के विषय में, गवर्नमैंण्ट को सूचित किया था, जो कि समाचार पत्रों में छप चुका है, और जिसका भाव निम्न प्रकार है। यदि हमको अपने देश की सन्तान का कल्याण वाञ्छित है, और शक्ति व बल की आवश्यकता है तो

दूध की मात्रा बढ़ानी चाहिये। अब ब्रिटिश गवर्मेंण्ट ने इङ्गलैण्ड की प्रजा में दूध को अधिकता से उपयोग में लाने के लिये क्या विधि स्वीकार की है यह अगले पृष्ठों में लिखी जावेगी।

दृष्टान्त संख्या ३—भारतवर्ष की गवर्मेंट ने भी भारतवर्ष में प्रत्येक प्रकार के भोजन का निरीक्षण कराया है, जिसके लिये गवर्मेंट ने डाक्टर मैकर्सन सिविल सर्जन और उनके बहुत से साथियों को नियुक्त किया, जिनका मुख्य कार्यालय मदरास में रहा और तीन वर्ष के पश्चात् डाक्टर मैकर्सन ने The food अर्थात् 'भोजन' नामक पुस्तक लिखी है, जिस में वे प्रत्येक प्रकार के भोजन का निरीक्षण करते हुए सब से उत्तम भोजन मनुष्य के लिये गौ का दूध और मक्खन बताते हैं। इसके अतिरिक्त कच्ची मूली गाजर टमाटर शाकादि और फिर कनक की रोटी बताई गई है। पंजाब का भोजन सब से उत्तम है और यह निर्णय डाक्टर मेकर्सन ने आज कल के पश्चिमीय सिद्धान्त जिसको विटेमन थ्यूरी (जीवन पोषक तत्त्व-सिद्धान्त) के अनुसार ही किया है। इस पुस्तक में उक्त डाक्टर अपने अङ्गरेज भाइयों के लिये लिखते हैं कि डबलरोटी खाना छोड़ दो। क्योंकि यह मैदा की बनी हुई होती है, इसमें से सार भोजन निकल जाता है, अथवा मैशीन में जल जाता है। चक्की का आटा अर्थात् कनक की रोटी इससे बहुत अच्छी है। फिर लिखते हैं कि चाकोलेट आदि विलायती मिठाइयां खानी छोड़ दो। जो कि एक प्रकार से गन्दी मिट्टी पर रंग और सुगन्धि देकर प्रायः बनाई जाती हैं, इन से कुछ लाभ नहीं।

इन मिठाइयों में हलवाई कौन कौनसी बासी गन्दी वस्तुएँ मिलाते हैं पता नहीं लगता है। इसलिये ये मिठाइयां न खाया करो।

दृष्टान्त संख्या ४—गवर्मेण्ट आफ इण्डिया की आज्ञा से नई देहली के हैल्थ आफिसर Major W. H Crichtor I. M. S. Health officer New Delhi ने शिमला के स्कूलों में दूध का अनुभव किया है। जिसकी सूचना The Statesman में तिथि ३। ८। ३७ में छपी थी। वह भी पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिये नीचे लिखी जाती है।

"Major W. H. Crichtor I. M. S. Medical officer of health New Delhi, report of his experiment at Simla Govrnment school by giving, 1 Ib of milk a day to each child in addition to ordinary food. In case of boys the average weight gained was 3 84th as compared with 16 th in the former groups. In case of girls the difference was more striking 4.54 ascompared with 0.92. In addition to this there was a decided improvement in general standard of health of the Children. in their appearance, health colour and in the intellegence, brigh'ness and happiness of the children."

मेजर .डबल्यू. एच. क्रिचतान आई. एम. एस.,

स्वास्थ्य विभाग के अफ़सर ने शिमला के स्कूलों में दूध का भोजन के तौर पर परीक्षण किया था। साधारण भोजन के साथ दूध की मात्रा देने से लड़के और लड़कियों के तोल में इस प्रकार वृद्धि हुई थी--

लड़के १.६ पौंड से बढ़कर ३.८ पौंड

लड़कियां ०.६२ से बढ़कर ४.५४ वृद्धि हुई है।

दृष्टान्त संख्या ५—Sir Kath Bast superson Director General of Indian medical services ने लण्डन की मैडिकल कान्फ्रेन्स में जो कि १६३७ में हुई थी भारतवर्ष के स्वास्थ्य के विषय में व्याख्यान देते हुए कहा कि आज से कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष के गांवों में तपेदिक नहीं था, परन्तु अब वहां पर भी पहुंच गया है। और इसका कारण गांवों में भोजन का पूरी मात्रा में न मिलना और अनुचित भोजन बतलाया है। अर्थात् दूध, घृत, मक्खन लस्सी फलादि की न्यूनता वतलाया है। और कहा है कि गांवों में लोग आगे खिचड़ी में घृत डाल कर खाया करते थे परन्तु आज कल वह भी नहीं मिलती।

दृष्टान्त संख्या ६--यू० पी० के एक स्वास्थ्य रक्षक विभाग के एक बड़े अफसर Cel meck Lojret ने लिखा है कि ट्रैंड या सुशिक्षित दाइयों की फौज खड़ा करने का प्रबन्ध करने की निस्बत दूध को ही सस्ता करने का प्रबन्ध करना चाहिये जिससे बच्चों की मृत्यु संख्या कम हो।

दृष्टान्त संख्या ७--मनुष्य भोजन का निरीक्षण करते हुए एक विद्वान् डाक्टर ने लिखा है कि मनुष्य शरीर को तथा उसके मन बुद्धि को उत्तम वा स्वास्थ्य बनाने के लिये दो प्रकार के आहार की आवश्यकता है। प्रथम शरीर के बनाने वाला Body builder (2) Energy Producer ज्ञान शक्ति वा मन बुद्धि वर्धक। भोजन में शरीर के बनाने के लिये जो वस्तु आवश्यक है उनका नाम अङ्गरेजी में Salts & protein है। ज्ञान बुद्धि बढ़ाने वाली वस्तुओं का नाम fats अर्थात् जिनमें चर्बी अधिक हो। मक्खन घृत तैलादि चिकनी वस्तुएं। प्रोटीन Protein के विषय में वे लिखते हैं कि मांस में १८ प्रतिशत, मच्छली में १४ प्रतिशत, अण्डे में १३ प्रतिशत और दूध के बने पनीर में २८ प्रतिशत है। दाल मे २२ प्रतिशत, मटर में २० प्रतिशत, प्रोटीन है। fats अर्थात् चर्बी बुद्धिवर्धक चिकनी वस्तुओं में से जिन में Corbihydrats अर्थात् मिठास पानी आदि विटेमन्स है। Vitamens है। यह सब से अधिक गौ के दूध में पाई जाती है।

दृष्टान्त संख्या ८--योरोप में दूध की मात्रा किस प्रकार बढ़ रही है और वहां के शासक दूध को सस्ता करके जनता तक पहुंचाने का क्या यत्न कर रहे हैं। नीचे लिखे कुछ विवरणों से पता लगेगा।

लण्डन में प्रति व्यक्ति दूध की खपत २५ तो० न्यूयार्क में अमेरिका में ५० तो० मुम्बई कलकत्ता में प्रति व्यक्ति ७ तो०, लाहौर में, जो दूध का घर समझा जाता है प्रति

व्यक्ति १० तो०। मुम्बई कलकत्ता में प्रति सेर ६ आने से ८ तक वह भी प्रायः मिला हुआ होता है । परन्तु लण्डन में शुद्ध दूध तीन आने या ४ आने सेर मिल जाता है । अमेरिका में गत २० वर्ष से दुगणी खपत हो गई है। जापान के ओसाका नगर में जिसकी आबादी ३५ लाख की है गवर्मेण्ट की ओर से ताज़ा दूध बन्द मोहर लगी हुई बोतलों में बिकने के लिये प्रातःकाल ही आ जाता है। इसके अतिरिक्त कोई और दूध नहीं बिक सकता है । इस ऊपर लिखे दृष्टान्तों से ज्ञात होता है कि पश्चिमीय सभ्यता, जिसको मांसादि राजस तामस भोजन का पोषक समझा जाता है वह गौ दूध की तरफ आकर्षित हो रही है । और सिद्धान्त के रूप में सब से उत्तम भोजन उन्होंने गौ दूध को ही निश्चय किया है और उसके पश्चात्, कच्ची सब्जियां आदि अनाज हैं ।

इङ्गलैण्ड में ब्रिटिश गवर्मेण्ट ने जनता में दूध की तरफ अधिक रुचि आकर्षित करने के लिये एक विधि प्रचलित की है। इस विचार से कि बड़े बूढ़ों का अभ्यास मांसादि भोजन चायादि पीने का बहुत अधिक हो गया है इसलिये उस में परिवर्तन लाना बहुत कठिन है। वैसे भी अङ्गरेज जाति बड़ी कट्टर है। जिस काम को पकड़ले कठिनता से उसको छोड़ती है। इसलिये विद्यार्थी या बच्चों में यह कार्य आरम्भ किया गया है। इस प्रचार के लिये लेडी डाक्टर नियत की गई हैं। वे पाठशालाओं में जाती हैं और विद्यार्थी बच्चों के दांत देखती

हैं। जिस बच्चे के दांत खराब हैं उसको लेडी डाक्टर कहती है कि तुम्हारे दांत क्यों खराब हैं ? विद्यार्थी कहता है कि मैं रोज़ ब्रुश से साफ़ करता हूं फिर पता नहीं कि क्यों मेरे दांत खराब हैं। लेडी डाक्टर कहती है तुम दांतों को इनका भोजन नहीं देते हो। इसलिये दांत खराब हो गये हैं। तो बच्चा कहता है कि मैं तो प्रति दिन भोजन करता हूं, डबल रोटी मांस तथा अण्डे भी खाता हूं। चाय भी पीता हूं। लेडी डाक्टर कहती है कि यह दांतों का भोजन नहीं है। बच्चा कहता है कि डाक्टर फिर दांतों का क्या भोजन है, तब लेडी डाक्टर बतलाती है कि दांतों का भोजन दूध है। दांत calcium कैलशियम से बनते हैं जो सब से अधिक दूध में होती है। मांस चायादि के खाने से तो दांत उलटे खराब हो जाते हैं। इस लिये दांत अच्छे और मज़बूत तथा सुन्दर चाहते हो तो दूध पिया करो, तो बच्चा कहता है कि ठीक है। मेरे माता पिता भी दूध कम पीते हैं इसी लिये उनके भी दांत खराब हैं। अब मैं रोज़ दूध पिया करूंगा और घर जाकर माता पिता से कहता है कि अब मुझे पता लग गया है कि मेरे और आपके दांत क्यों खराब हैं। आज लेडी डाक्टर हमारी पाठशाला में आई थी और उसने कहा है कि दांत की खुराक दूध है इसलिये अब मैं प्रतिदिन दूध पिया करूंगा। इस प्रकार बृटिश गवर्मेन्ट ने अपनी सन्तान में अर्थात् मूल से ही दूध का आरम्भ करा दिया है। वैसे भी सब को ज्ञात है कि प्राणी मात्र में जिन

बच्चों की माता दूध पिलाती है उनके ही दांत होते हैं जो पशु पत्ती दूध नहीं देते उनके बच्चों के दांत भी नहीं होते। इसी प्रकार मांस खाने वालों के अन्दर जो जहरीले छुपे हुए रोगों के परमाणु या कृमि होते हैं वह मांस खाने वालों के अन्दर जाकर रोग उत्पन्न करके अल्प आयु का कारण बनते हैं। इस सिद्धान्त को भी अब योरोपियन डाकटरों ने अच्छी प्रकार जान लिया है। इसलिये आजकल वहां मांस तथा चाय का स्थान भी दूध को दिया जा रहा है। जर्मन में भी अब होटलों में दूध मिलता है चाय विशेष आज्ञा देकर यात्रियों को बनवानी पड़ती है। इसी प्रकार इटली में भी एक अमेरिकन यात्री ने जब इटली के ड्यूक मुसलोनी से पूछा कि आप क्या खाते हैं तो उसने उत्तर दिया कि चार बड़े गिलास दूध के प्रतिदिन पीता हूं और इस के अतिरिक्त सब्ज़ वा शुष्क मेवे मेरा विशेष भोजन है। ऊपर बतलाया गया है कि मनुष्य की पूंजी उसके कर्म ही हैं, क्यों कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है परन्तु फल ईश्वर-आधीन है। मनुष्य अपने खेत में जैसा चाहे बीज बो सकता है। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कनक बीजने के पश्चात् उसके फल बादाम बना सके। यह परिवर्तन किसी भी शक्ति के हाथ में नहीं, यह नियम अटल है। अर्थात् जैसा बीजेगा वैसा ही काटेगा। इस लिये मनुष्य का तो अधिकार है कि मांस अण्डे खावे या सब्ज़ी फल अनाज आदि अथवा चाय पिये या दूध, गौ का दूध पीये या भैंस या बकरी का।

परन्तु इसके परिणाम में मनुष्य परिवर्तन नहीं कर सकता। क्योंकि सत्त्वगुणी रजोगुणी या तमोगुणी जैसा भोजन उसकी इच्छा हो अपने संस्कार या संगति के प्रभाव से उसको रुचिकर हो, खा सकता है। परन्तु राजस या तामस भोजन खाकर यदि चाहे कि उसका शरीर तथा मन बुद्धि अर्थात् स्वभाव सात्विक बन जावे यह असम्भव है। मनुष्य के कर्म उसके स्वभावानुकूल होते हैं जैसा कि गीता में भगवान् कृष्ण कहते कि—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्विक मन वाले उन्नति के शिखर पर चढ़ते हैं, राजस मन वाले बीच की स्थिति को प्राप्त करते हैं, तामस मन वाले निकृष्ट कर्म करते हैं और नीच योनियों में जाते हैं। जैसे एक गन्दी या नमकीन मिट्टी से बने हुए घड़े में जल डालने से उसी प्रकार के संस्कार जल में अवश्य आते हैं। पहाड़ों में गन्धक या अभ्रक अथवा कई प्रकार की धातुएं और बूटियां होती हैं। इन धातुओं या बूटियों के संस्कार उस जल में अवश्य होते हैं, जो जल चश्मों से निकलता है। और ऐसे जल के सेवन से पशु पक्षी तथा मनुष्यादि के स्वास्थ्य पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, अर्थात् लाभ या हानि होती है। इसी प्रकार जैसे भोजन जल वायु का कोई सेवन करता है वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है, और

अपने स्वभाव से बन्धा हुआ मनुष्य वैसे ही कर्म करता है, और वैसा ही फल भी पाता है। इस नियम में भूल या पक्षपात नहीं होता। प्रतिदिन देखा जाता है कि एक राजस तामस प्रधान प्रकृति का मनुष्य कभी सत्सङ्ग में जाता है और वहां दान की महिमा सुनकर जेब में हाथ डालता है क्योंकि क्षणिक सात्विक उपदेश के प्रभाव से दान करने की तरफ रुचि हो जाती है परन्तु तत्काल ही दूसरा विचार आ उपस्थित होता है जो कि प्राथमिक विचार को दबा देता है कि इन लोगों के कथन पर आचरण करेंगे लुट जावेंगे। यही रुपया रात्रि को सिनेमा देखने के कार्य में काम आवेगा। दान दे दिया तो सिनेमा देखने के कार्य में काम आवेगा। दान दे दिया तो सिनेमा कैसे देख सकेंगे और फिर जेब से हाथ बाहर निकाल लेता है। यह फल उस राजस प्रधान स्वभाव का है जो उपदेश मिलने पर भी दान से रोकता है, या किसी दुःखी भाई बहिन का वृत्तान्त सुनकर हाथ रोक लेता है। यद्यपि रुपया पास है, दे सकता है, दान देने से कुछ कष्ट भी नहीं होता। एक दिन सिनेमा न देखे, मिठाई न खावे तो क्या होगा। परन्तु राजस प्रकृति या तामस स्वभाव उत्तम सात्विक कर्म करने से रोकती है, यह रजोगुण तमोगुण भोजन प्रधान स्वभाव का ही परिणाम है जो कि कभी २ का सत्सङ्ग भी उस भोजन से बने विचारों पर बहुत क्षणिक प्रभाव डालता है, और जिसके फल स्वरूप मनुष्य अपेक्षा ऊंचा उड़ने के अर्थात् मनुष्यत्व को स्थिर रख कर देवत्व के प्राप्त करने के उलटा अपने तामस स्वभाव के अनुकूल, अटल ईश्वरीय नियम के

अनुसार पशु पत्ती की योनि में जाता है। और इसी प्रकार एक जीती हुई बाजी हार बैठता है। क्योंकि मनुष्य जन्म की प्राप्ति एक जीती हुई बाजी है। पशुओं के मांसादि तामस भोजन खाने से मनुष्य का स्वभाव पशु प्रकृति के अनुसार हिंसक ही होगा अर्थात् झूंठ, चोरी और धोखा देकर दूसरे की वस्तु या अधिकार छीनने की ओर रुचि होगी। लड़ाई झगड़ा तथा बहुत सोने की इच्छा और बासी गन्दा चटपटा बहुत मसालेदार खट्टा आदि भोजन खाने में प्रीति बढ़ती है। जो कि संसार में अशान्ति फैलाने और मनुष्यों की अल्पायु का कारण होता है। जैसा कि आजकल दृष्टिगोचर ही रहा है। राजस तथा तामस भोजन विकारी होता है, मिलावट वाला होता है। इस लिये ऐसे भोजन के खाने से शरीर मन बुद्धि भी विकारी होते हैं। अर्थात् शरीरादि प्राकृतिक Natural या नार्मल अवस्था में नहीं रह सकते। इसलिए अग्नि जलवायु तथा पृथिवी के परमाणुओं में से किसी का अंश कम या अधिक अवश्य होने के कारण एक तो शरीर में कोई न कोई रोग अवश्य ही बना रहता है, और उस विकार को दूर करने के लिये प्रायः लोग मांस में शलगम गोभी आदि सब्जी डालकर खाते हैं, और उस मांस की गर्मी की अधिकता को कम करके नीरोग बनाने का यत्न करते हैं। परन्तु ऐसा करने पर भी वह सात्विक भोजन तो नहीं बन सकता। जैसे दूध या भोजन में गन्दे स्थान की मक्खी पड़ जाने से भी रोग पैदा हो जाता है, और शरीर

मन बुद्धि सब को चञ्चल कर देता है और सांसारिक कर्त्तव्य वा विचारपालन में भी बाधा उपस्थित कर देता है। तो ऐसे मनुष्य को ईश्वर के समीप ले जाने में यह भोजन कैसे सहायक हो सकता है जिस कार्य के लिए शरीर की नीरोगता और मन बुद्धि की पवित्रता तथा एकाग्रता ही मुख्य साधन है।

शरीर रक्षा के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त पाठकों के ज्ञान के लिए अति आवश्यक है। ऊपर लिखा गया है कि मनुष्य जैसा भोजन खाता है वैसा ही वीर्य और ओज बनता है। और शरीर का आधार इसी वीर्यरूप अनमोल रस पर है अर्थात् ब्रह्मचर्य पर। जितना कोई इसकी संभाल रक्खेगा और नियम पूर्वक उपयोग में लावेगा, उतना ही उसका शरीर नीरोग शक्तिशाली और दीर्घायु हो जावेगा। अरोग्यता शरीर को प्राकृत या सम अथवा नार्मल अवस्था में रखने में है। परन्तु मांस चाय अण्डे आदि राजस तामस भोजन में मनुष्य शरीर की आवश्यकता से अधिक गर्मी होती है, इसलिये ऐसे भोजन से बना हुआ मनुष्य का वीर्य भी प्राकृत सम या नार्मल अवस्था में नहीं रह सकता। ऐसे रज वीर्य में आवश्यकता से अधिक गर्मी होती है इसलिये वह ऐसे स्त्री पुरुष को सदाचारी नहीं रहने देता। वीर्य उत्तेजित होकर बाहर निकलने के लिए अधिक जोर देता है और इस प्रकार इस अनमोल रत्न का दुरुपयोग करने के लिये बाधित हो जाता है जो कि उसकी अल्पायु और रोग का कारण होता है। और इसी प्रकार अनि-

यम करके स्त्री पुरुष एक दूसरे की हिंसा का कारण भी बनते हैं। क्योंकि भोजन और वीर्य का सीधा सम्बन्ध है इसलिए चाहे कोई ईश्वरभक्त कहलाये या साधु, यदि वह जिह्वा के स्वाद के लिये भोजन करता है तो वह वीर्य को रोक नहीं सकता और न ही उसके विचार पवित्र रह सकते हैं उसके लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। इस कार्य के दुरुपयोग से उत्पन्न पति पत्नी की हिंसा और पीछे के पश्चात्ताप से बचने और शरीर को नीरोग रख कर गृहस्थ को स्वर्ग या सुन्दर बनाने की औषधि गाय का दूध वा मक्खन तथा सब्जियों का सेवन ही है। जिन से शरीर मन बुद्धि और भी प्राकृत सम या नार्मल अवस्था में रहता है और मनुष्य की शारीरिक मानसिक आत्मिक अवस्था की उन्नति करके राष्ट्रिय और सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन को भी उन्नत बनाता है अर्थात् शान्ति और प्रेम का संचार करके संसार रूपी प्रभु की वाटिका को सुगन्धित बना देता है। क्योंकि सात्विक भोजन का फल ही प्रेम और शान्ति है। और यही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। इसलिये भारतवर्ष के ऋषियों ने भोजन को तीन भागों में बांटा है—(१) हित, अर्थात् हितकारी लाभकारी या नीरोगता का देने वाला सात्विक ही है। (२) मित, अर्थात् कितनी मात्रा में खावे अर्थात् भूख से अधिक न खावे और भूख लगने पर भोजन करे क्योंकि बिना क्षुधा के भोजन किया हुआ अमृत भी विष

बन जाता है। (३) ऋतु, अर्थात् ऋत्वनुकूल और समय पर भोजन करना चाहिये। क्योंकि भोजन समय पर न करने से आमाशय तथा अन्तड़ियां, निर्बल हो जाते हैं जिसके कारण बहुत प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं जो कि पश्चात् चिकित्सा करने पर भी उनको आराम होना कठिन हो जाता है। और इसी प्रसङ्ग को पाश्चात्य एक डाक्टर ने यों लिखा है। संख्या (१) quality भोजन का प्रकार। संख्या [२] quantity अर्थात् कितनी मात्रा में खाना चाहिये। संख्या (३) mixture अर्थात् भोजनीय वस्तुओं को कितनी मात्रा में और कैसे मिलाना चाहिये। क्योंकि वस्तुओं को ऋतु अनुसार मिलाकर खाने अथवा आवश्यकतानुसार तड़का लगाने से गुणकारी विकार-रहित या रोग-नाशक भोजन बन जाता है। इसीलिये भोजन को भी परम औषधि कहा है, क्योंकि यह भूख तथा प्यास रूपी रोग की निवृत्ति की औषधि है इसलिए भोजन बनाने या मिलाने की भी, औषधि बनाने या मिलाने की भांति एक विद्या है, इसको जानना प्रत्येक स्त्री का विशेष कर्त्तव्य है। क्योंकि जो देवी इस विद्या को जानकर उसके अनुकूल भोजन बनाती है, उसके पति या परिवार के शरीरों की रक्षा वा दीर्घ आयु उस देवी के हाथ में है, उस गृह में वैद्य या डाक्टर के आने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये भारतीय ऋषियों ने भोजन निर्माण विद्या को रसायन कहा है। परन्तु आजकल भोजन विद्याका जानना और बनाना निकृष्ट कार्य समझा

जाने लगा है, और उसका फल भी रोग की वृद्धि और अल्प-आयु भारतवासी ही सबसे अधिक भोग रहे हैं। क्योंकि रोग और बच्चों की मृत्यु संख्या इसी देश में अधिक है। और भारत वासियों की औसत आयु २४ या २३ वर्ष अर्थात् सब देशों से अल्प इसी देश में है। और इसीलिये आज भारतीय सन्तान एक कागज के फूल की भाँति बन रही है। जिस में प्राकृतिक सुगन्धि और सुन्दरता नाममात्र की भी नहीं है। योरोप के नेता चाय के उपयोग को अपनी जनता में कम करने का यत्न कर रहे हैं, और भारतवर्ष में दिन प्रतिदिन इसके उपयोग का प्रचार बढ़ रहा है। परन्तु मांस भक्षण की भांति चाय का अभ्यासी भी वीर्य जैसे अनमोल रत्न को शरीर के अङ्ग बनाने में असमर्थ रहता है। क्योंकि आवश्यकता से अधिक शरीर में गर्मी उत्पन्न हो जाने से चाय भी विकार पैदा करती है, जिसको अनुभव करके सैकड़ों बार देख लिया गया है। इसी प्रकार भैंस का दूध भी बुद्धि को स्थूल बनाता है। इस लिये प्रभु शक्ति जैसे अर्थात् सूक्ष्म विचार में वह बाधक है। केवल गाय का दूध ही प्रत्येक प्रकार के मनुष्य के सेबन के के लिये उपयोगी है। और उससे सेवन से शरीर में शक्ति वा वीर्य की प्राप्ति होती है। यदि मनुष्य निरन्तर सत्सङ्ग में न रहे और मस्तिष्क से सांसारिक पर्याप्त कार्य न करे और ईश्वर चिन्तन न करे, और गो-दुग्ध पान न करे, तो उसके लिये भी ब्रह्मचारी रहना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है। इसलिये यह विचार कि मांसादि को छोड़कर गाय के

दूध के सेवन से स्त्री पुरुष निर्बल तथा कायर बनते हैं, बिलकुल ठीक नहीं है।

दूसरा साधन—वस्त्र

क्योंकि मनुष्य का शरीर अग्नि जल वायु पृथिवी के परमाणुओं से बना है। इसलिये इन्हीं परमाणुओं के संसर्ग में रहने से शरीर स्वस्थ रह सकता है। इसलिये वस्त्र जितने अधिक पहने जायंगे और फिर बनावटी सजावट के विचार से स्त्री पुरुष उतना ही इन प्रकृति के परमाणुओं से दूर रहेंगे अर्थात् उनका संसर्ग कम होने से शरीर निर्बल होगा। जैसे ईंट बनाने के लिये अग्नि जल वायु पृथिवी इन चारों की आवश्यकता है, इनमें से किसी एक की मात्रा भी कम या अधिक होने से ईंट न बनेगी और यदि बनेगी तो कच्ची रहेगी या गल सड़ जायेगी। ऊपर से रंग देने पर भी जो मन्दिर इन ईंटों से बनेगा यह निर्बल भयावह और खतरनाक बनेगा। जैसे एक तोता जिसको पिंजरे में बन्द कर दिया है चाहे उसको कितना ही सजाओ और चूरी खिलाओ, पिंजरा अच्छा सुन्दर बनाओ, परन्तु कुछ काल पश्चात् उड़ने में निर्बल होजावेगा। इसी प्रकार जो स्त्री पुरुष वस्त्र अधिक पहनते हैं और बच्चों को अधिक वस्त्र पहनाने का अभ्यास डालते हैं और फिर सजावट के भाव से दो रुपये का वस्त्र लेकर दो रुपये सिलाई और ४ रुपये की किङ्करियां वा बटन आदि लगाकर पहनते तथा पहनाते हैं, वे जहां प्राकृत शक्तियों से दूर होजाते हैं, वहां विषय वासनाओं को भी बुलाते हैं और शरीर को

नार्मल अवस्था में अथवा संयम में न रखने के कारण निर्बलता और रोगों का आह्वान करते हैं, अर्थात् शरीर का शीघ्र नाश कर लेते हैं। और अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। वस्त्र तो सर्दी और गर्मी से बचने के लिये तथा लज्जा ढकने के लिये हैं परन्तु हम नगर निवासी वस्त्र अधिक पहन कर सूर्य आदि से बहुत दूर हो जाते हैं और इसी लिये विशेषतया नगर निवासी जनता निर्बल रोगी और अल्पायु होती है। परन्तु ग्रामीण लोग जो नागरिकों की अपेक्षा बहुत कम वस्त्र पहनते हैं और जिनके बच्चे भी प्रायः पांवों से सिर तक दिन भर नंगे रहते हैं उनके शरीर नागरिकों की अपेक्षा निरोग शक्तिशाली दीर्घ आयु वाले होते हैं। क्योंकि ग्रामीण जनता को सूर्य वायु पृथिवी आदि का संसर्ग अधिक मिलता है। नगर निवासी बच्चे या बूढ़े अथवा अमीर लोग जो अधिक कपड़े पहनते हैं उनको ही निमोनिया आदि रोग अधिक होते हैं। यद्यपि भारतवर्ष एक गर्म देश है परन्तु सर्द देश के रहने वाले अङ्गरेजों की नकल करके हम लोगों ने गर्म ऋतु में भी बच्चों को और स्वयं जुराब और फुलबूट पहनने का अभ्यास कर लिया है और इस में शरीर की खूबसूरती या सुन्दरता या रक्षा समझ रक्खी हैं। और ईश्वरदत्त अनमोल शक्तियों अर्थात् सूर्य वायु पृथिवी से, जो कि परमेश्वर ने भारतवासियों को विना मूल्य दे रक्खी हैं और जिनके लिये दूसरे देश तरसते हैं, अज्ञानवश मुख मोड़ लिया है। और उसके फल स्वरूप

अपने वा सन्तान के शरीरों को प्रतिदिन निर्बल बनाकर रोगों का आह्वान कर रहे हैं। वास्तव में आज हम अप्राकृतिक भोजन के बने हुए निर्बल शरीर को पश्चिमीय सभ्यता के कोट, ओवर-कोट, स्वेटर अन्डर-वीयर (Under wear) नकटाई कालर जुराब ऊँची ऐड़ी के बूट वा नाना प्रकार की साड़ियों में ढाप कर नीरोग तथा दीर्घायु की आशा रखते हैं, जो कि असम्भव है। एक वीर्यवान् और बलवान् पुरुष को अधिक वस्त्र पहनने की आवश्यकता ही नहीं होती। एक पहलवान सर्दी के मौसम में भी एक खद्दर या मलमल के के कुरते में आनन्द से रहता है। यह तो पश्चिमीय सभ्यता का उलटा ज्ञान है Where tailor makes a gentleman अर्थात् जहां एक दरजी ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। परन्तु भारत वर्ष में Character makes a gentleman अर्थात् सदाचार ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इस लिये देशकालानुसार हमें अपने शरीर को प्रकृति के अधिक संसर्ग में रखने के भाव से सादा वा कम वस्त्र पहन कर नीरोग रखने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस से शरीर रूपी गाड़ी देर तक चल सके और हम इस जन्म में ही अपने लक्ष्य के समीप हो सकें। स्वतन्त्र सुख आनन्द का जीवन परिवार सहित व्यतीत करें।

तीसरा साधन—निवास स्थान

भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त मनुष्य को शरीर रक्षा के

लिये space स्थान अर्थात् मकान झोंपड़ी महल चाहिये। जहां वह अपने शरीर को सर्दी गर्मी हवा या बरफ आदि से बचा सके अथवा रात्रि को कुछ घण्टे आराम से सो सके जिसके बिना शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता है। परन्तु इस कार्य में भी शरीर रक्षा सादगी वा पवित्रता के भाव को छोड़ कर मुख्य रूप में सजावट वा दिखलावे की ओर हमारी रुचि अधिक हो गई है। मकान के अन्दर सूरज तथा वायु बेशक कम आवे परन्तु कमरे अधिक हों, सोने के कमरे सब के पृथक् २ हों, Drawing Room अर्थात् सजावट का कमरा अवश्य होना चाहिये। संध्या तथा अग्निहोत्र के लिये कोई कमरा हो या न हो। इसका कोई ध्यान नहीं। इसी भावना से अथवा किराये के लोभ से थोड़ी ज़मीन पर कई छत के मकान बनाये जाते हैं। अन्दर बाहर से मकान में सुन्दर रंग वा पलस्तर कराये जाते हैं। मूल्यवान् फ़र्श वा सीलिङ्ग लगवाये जाते हैं। परन्तु शरीर रक्षा का ध्यान बिलकुल नहीं रखा जाता। यदि ध्यान होता तो सूरज तथा वायु के अन्दर आने का मुख्य ध्यान रक्खा जाता। परन्तु जिन बड़े २ नगरों में रहने का मनुष्य को आज अभिमान है और जिन नगरों को आजकल की सभ्यता का आदर्श समझा जाता है, वहां पर ही सूरज जलवायु तथा पृथ्वी का अभाव है। बच्चों के पांवों के स्पर्श के लिये पवित्र पृथ्वी नहीं है, शुद्ध वायु नहीं जल नहीं और सूरज का नाम नहीं। वहां के गन्दे परमाणुओं के

निकलने का कोई साधन नहीं । इसलिये ये वर्तमान सभ्यता के आदर्श नगरों के निवासी रोग तथा अल्प आयु को प्राप्त न हों तो कौन हों ? क्या आज तक बड़े २ महलों वाले और धनिक लोग अपनी आयु को लम्बा कर सके हैं ? और नीरोग तथा सुख का जीवन प्राप्त कर सके हैं ? इस प्रकार के अप्राकृतिक विधि से नगर बसाने और सब के लिये पृथक् २ कमरे बनाकर बड़े २ भवनों में रहने का फल यह हुआ है कि मनुष्य के जीवन की आवश्यकताएं बढ़ गई हैं । क्योंकि जितने कमरे अधिक उतने ही सजावट के सामान अधिक चाहियें। इसके अतिरिक्त विषयासक्त जीवन हो जाने से वीर्य का ह्रास होकर नीरोगता तथा शक्ति का नाश होता है। सर्दी गर्मी की सहन शक्ति निर्बल हो जाती हैं। तप का जीवन नहीं रहता। आरामतलबी आवश्यकता से अधिक हो जाती है और ये ही किसी व्यक्ति या जाति तथा परिवार की परतन्त्रता के कारण होते हैं वहां उनके शरीर भी रोगी और अल्प-आयु हो जाते हैं। यद्यपि बाहरी चमक दमक तथा सुन्दरता बढ़ जाती है जो कि अपने को धोखा ही देने के समान है । परन्तु प्रतिदिन मनुष्य अपने लक्ष्य से दूर होता चला जाता है। इस प्रकार के वर्तमान नकली बनावटी जीवन से, अर्थात् प्राकृति कासादा भोजन वा वस्त्र को छोड़ कर, अप्राकृतिक भोजन वस्त्र वा स्थान को ग्रहण करके मनुष्य ने क्या प्राप्त किया है ?

(१) आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण मनुष्य के प्रतिदिन के व्यय-अधिक बढ़ गये हैं (२) इसी कारण असत्य व्यवहार अर्थात् चोरी ठग्गी, रिश्वत, अनधिकार चेष्टारूप पाप बढ़ गये हैं (३) हर देश में अशान्ति का साम्राज्य दिन प्रतिदिन उन्नति पर है। राजा प्रजा में असन्तोष की अग्नि धधक रही है। मजदूर तथा पूंजीपतियों में झगड़ा है। गरीब बहुत गरीब, और अमीर बहुत-अमीर होने के कारण परस्पर वैमनस्य तथा वैर भाव बढ़ गया है। (४) Exploitation अर्थात् लूट मार, निर्बल गरीब व्यक्ति या जाति को जिस प्रकार से भी सम्भव हो लूटा जावे और अपने आधीन रक्खे जाने की रुचि बढ़ गई है, क्योंकि वैदिककाल के विपरीत भोजन वस्त्र और स्थान में समानता नहीं रही (५) बेकारी अधिक बढ़ गई है। परन्तु बावजूद इन उचित तथा अनुचित साधनों के उपयोग में लाने और दिन रात बलपूर्वक यत्न करके भोजन, वस्त्र, स्थान की आवश्यकता को पूर्ण करने की कोशिश के मनुष्य की आत्मा उन्नत नहीं हुई, अर्थात् इस जीवात्मा को कोई लाभ नहीं हुआ, जिसके लिये ये कष्ट किये जा रहे हैं। क्योंकि अमेरिका, अफ्रीका इंगलैंड जर्मनी फ्रान्स जापान हिन्दुस्तान जहां भी जाकर देखो सब का आत्मा अशान्त है। क्योंकि अन्तिम लक्ष्य की ओर पग नहीं उठाया गया वह प्रतिदिन लक्ष्य से दूर हो रहें हैं। इसलिये निराश हैं, दुःखी हैं। क्योंकि केवल गाड़ी मोटर के सजाने से गाड़ी

मोटर शक्तिशाली वा दीर्घ आयु वाली नहीं हो सकती। और नाहीं वह लक्ष्य की ओर एक कदम भी चल सकती है, इस लिये जीवरूप यात्री की यात्रा में अप्राकृति भोजन तथा वस्त्र और स्थान कोई सहायक नहीं हो सकते अपितु उलटा रुकावट का कारण बन रहे हैं। इसलिये आज संसार में वैदिक सभ्यता की अपेक्षा बहुत अधिक रोग अल्प आयु वा अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है जो कि वैदिक सभ्यतानुसार प्राकृत सादा भोजन वस्त्र वा स्थान से ही दूर हो सकेगी और इन्हीं साधनों से शरीर को अपने लक्ष्य में यथाशक्ति पूर्णतया सहायक बनाना मनुष्य का तीसरा कर्तव्य है।

दृष्टान्त संख्या १—बंगाल के प्रसिद्ध नेता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी ७५ वर्ष की आयु में जब समाचारपत्र सम्पादक का कार्य आरम्भ किया था, तो लिखा था कि मैं अब ७५ वर्ष का हूं फिर भी स्वस्थ हूं और उस उत्तम स्वास्थ्य के कारण निम्न लिखित लिखे थे। (१) मैं प्रतिदिन नियत समय पर व्यायाम करता हूं। भ्रमण करना उत्तम व्यायाम है और मैं इसी का अभ्यासी हूं (२) भोजन का विशेष ध्यान रखता हूं और नियत समय पर ऋतु अनुकूल शीघ्र सोता हूं और प्रातःकाल भी शीघ्र ब्राह्म मूहूर्त में उठता हूं। (४) तम्बाकू या नशे करने वाली वस्तु का उपयोग बिलकुल

नहीं करता हूँ। (५) सोने से प्रथम प्रत्येक प्रकार की चिन्ता को छोड़ कर ही निद्रादेवी की गोद में जाता हूं। ये मेरे उत्तम स्वास्थ्य या दीर्घ-आयु के कारण हैं।

दृष्टान्त संख्या २—फ्रांस के प्रसिद्ध रसायन विज्ञ मिस्टर ओल की जब जन्म-शताब्दी मनाई गई तो उन्होंने अपनी दीर्घ-आयु के निम्नलिखित कारण बतलाये थे। (१) मैं फिकर या किसी भी प्रकार की चिन्ता को अपने पास आने नहीं देता हूं। (२) मांस भक्षण बिलकुल नहीं करता हूं। (३) तम्बाकू चाय शराब कहवा बिलकुल नहीं पीता और मैं समझता हूं कि इन्हीं वस्तुओं के सेवन के बिना १०० वर्ष की आयु प्राप्त कर सका हूं।

दृष्टान्त संख्या ३—डाक्टर स्मिथ साहब ने अपनी १०० वर्ष की आयु का कारण यह बतलाया है। तम्बाकू शराब से परहेज़ करता हूं। चाय कहवा बहुत कम पीता हूं। आंखों की निर्बलता के कारण दूध रोटी के सिवाय कुछ नहीं खाता हूं। डाक्टर स्मिथ कहा करते थे कि यदि दीर्घ आयु की इच्छा है तो किसी कृत्रिम रोग की कल्पना करके ही संयम का जीवन व्यतीत किया करो।

दृष्टान्त संख्या ४—इङ्गलैंड की मशहूर श्मशान-भूमि में थौमसपार नामक एक व्यक्ति की कबर है जो सन् १४८३ में पैदा हुआ था और १५२ वर्ष आयु होने पर १६३५ में उसकी मृत्यु हुई थी। उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है

कि जब वह १३० वर्ष का था अपने खेत में कार्य किया करता था और समय निकाल कर मजदूरी लेकर दूसरों का काम कर दिया करता था। उसके स्वास्थ्य वा दीर्घ-आयु से प्रभावित होकर उस समय के इङ्गलैंड के महाराजा चार्ल्स प्रथम ने उसको शाही अतिथि बना कर अपने पास रख लिया था। जहाँ उसको शाही भोजन अर्थात् मिठाई तथा शराब आदि खिलाये पिलाये गये। जिनके कारण वह बीमार होकर शीघ्र मर गया। डाक्टर विलियम हारवे जो उस समय रक्त निरीक्षण में प्रसिद्ध थे, उन्होंने उस व्यक्ति थौमसपार के शरीर का निरीक्षण करके लिखा था कि उसकी समस्त इन्द्रियां आदि स्वस्थ थीं। यदि उसको राजकीय भवनों की जल वायु और भोजन न दिया जाता तो और भी अधिक समय तक जी सकता था। खोज या अन्वेषण करने पर पता लगा कि उसका असली भोजन ताजी सादा रोटी, और ताज़ा दूध तथा दूध से बनी हुई वस्तुएं, ताज़ा मेवे या सब्जियां ही थीं और यही उसके उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घ आयु के कारण थे।

दृष्टान्त संख्या ५—सर विलियम पटेल ने भी दीर्घ आयु को प्राप्त किया और वे लिखते हैं कि पूर्व काल के मनुष्यों की दीर्घ आयु का कारण यह है कि भोजन में संयम रखते थे। अधिकतर मेवे वा सब्जियां खाते थे। शुद्ध खुली वायु में रहते थे। और उनकी चिन्ताएं कम थीं, क्योंकि उनकी आव

श्यकताएं कम थीं। इन समस्त उपरिलिखित दृष्टान्तों से पाठकों को पता लग गया होगा कि मनुष्य शरीर की रक्षा वा दीर्घ आयु के लिये प्राकृत साधा भोजन, सादा वस्त्र, तथा सादे स्थान की ही आवश्यकता है। जिससे प्राकृतिक शक्तियों से अधिक लाभ उठाया जा सके और मनुष्यों की अनावश्यक आवश्यकताओं की भी वृद्धि न हो। इन के बढ़ने के कारण मनुष्य की चिन्ता बढ़कर, जहां भाँति भाँति के रोग पैदा हो जाते हैं और अल्प आयु होकर शीघ्र मनुष्य मर जाता है; वहां लोभवृत्ति की वृद्धि के कारण संसार में प्रेम का अभाव होकर अशान्ति की वृद्धि हो जाती है।

[७]

चौथा कर्त्तव्य

सत्य व्यवहार, पारस्परिक सेवा और सहयोग

मनुष्य का चौथा कर्तव्य यह है कि दूसरों के साथ, अर्थात् प्रभुप्रजा के साथ सत्य व्यवहार करने का ज्ञान प्राप्त करे और तदनुकूल आचरण भी करे। ऊपर लिखा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की है एक जड़, और दूसरे चेतन। वर्तमान समय के वैज्ञानिक भी यही बतलाते हैं कि जड़ पदार्थ भी अनेक परमाणुओं (Electrons and Atoms) से मिलकर बनते हैं और उनका परस्पर बड़ा संगठित सम्बन्ध है; जिससे बंधकर अर्थात् एक सूत्र में एकत्रित होकर एक पदार्थ, रूप रंग वाला स्थूल या ठोस बन जाता है। परन्तु इस संगठन को एक साधारण व्यक्ति साधारण दृष्टि से देखता है। जैसे लोहे या पीतल के बर्तन या टुकड़े को देखकर कुछ विशेष विचार उत्पन्न नहीं होता। परन्तु जैसे जड़ पदार्थ बनते हैं।

वैसे ही चेतन सृष्टि के शरीर भी कई cells या परमाणु एकत्रित होकर चलने फिरने वाले गतिमान् अथवा देखने और विचार करने के साधन बन जाते हैं। और जड़ पदार्थों की भान्ति इनका भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे सृष्टि में सूर्य की महती आवश्यकता है क्योंकि संसार की रचना में इसका बड़ा भाग है, अर्थात् सूर्य सृष्टि के पदार्थों को सुन्दर बनाता है रूप रंग वा गति देता है, अर्थात् समस्त पदार्थों में जीवन का संचार करता है ऐसे ही एक घास के तिनके का भी एक सब्ज़ घासी मैदान में भाग है और प्रत्येक तिनके की आवश्यकता है । क्योंकि तिनके के मिल कर रहने से ही एक सब्ज़ मखमल की भान्ति फ़र्श बिछ जाता है जो कि बच्चे से बूढ़े मनुष्य तक के दिल को लुभाता और ताज़ा करता है। इसी प्रकार प्रत्येक छोटे से छोटे अणु या परमाणु मिलकर यह जड़ सृष्टि बनी है और प्रत्येक परमाणु की आवश्यकता और उपयोगिता है, जिसके बिना संसार की कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। ऐसे ही एक तुच्छ से तुच्छ जर्म या कृमि के संगतिकरण से यह सब उत्तम चेतन सृष्टि बनती है जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है । और इसी लिये एक छोटे से कृमि को भी इस संसार में, इस चेतन की सृष्टि के उत्तम या सुन्दर बनाने के लिये आवश्यकता और उपयोगिता है। क्योंकि वह संसार की गन्दी वायु को खाकर सृष्टि को पवित्र बनाने में सहायक होता है। अन्यथा यह वायु इतनी

गन्दी हो जावे कि दूसरे प्राणियों का जीवन दूभर हो जावे अथवा अधिक कठिन वा दुःखदायक हो जावे। जैसे एक महाराज को अपने देश के राज्य के प्रबन्ध के लिए न्याय नियम रखने की आवश्यकता है। इस लिए प्रत्येक छोटे या बड़े प्राणी की इस संसार को पूर्ण करने के लिये अपने २ स्थान वा कार्य की दृष्टि से उपयोगिता और आवश्यकता है। और इन सब का इस सृष्टि के लिए स्थिर रखने व। न्याय नियमानुसार चलाने में परस्पर एक दूसरे के साथ घनिष्ठ वा आवश्यक सम्बन्ध है जैसे यह संसार पांच भूत अर्थात् अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी से बना हुआ है और इनमें से प्रत्येक की इस सृष्टि की रचना में आवश्यकता है। इन में से यदि एक को भी पृथक् कर दिया जावे तो संसार वर्तमान अवस्था में नहीं रह सकता। और जैसे किसी चेतन जीव के शरीर को पूर्ण बनाने के लिये, इस शरीर के प्रत्येक अङ्ग की उपयोगिता और आवश्यकता है। क्योंकि कोई छोटे से छोटा अङ्ग भी यदि न होतो शरीर पूर्ण नहीं कहा जा सकता और नाहीं उससे पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। ऐसे ही इस सृष्टि के पूर्ण सुन्दर और उत्तम तथा सुखदायक बनाने में सब छोटे बड़े प्राणियों का भाग है। इस लिये मनुष्य को चाहिये कि वह किसी प्राणी को निकम्मा या तुच्छ न समझे, क्योंकि सब के सम्मिलित होकर अपना कर्त्तव्य पालन करने से ही सृष्टिरूप की सुन्दरता

वा सुगन्धितपन पैदा होते हैं इस लिये प्रत्येक मनुष्य का इस अनमोल मनुष्य जन्म में आकर यह चौथा कर्त्तव्य है कि वह संसार में माला के मनके की भान्ति माता पिता तथा गुरु आदि सम्बन्धियों और परिवार जाति और देश के हितकारी काम सब से मिल कर करे। इसी में एक व्यक्ति की बड़ाई और शोभा है। और इसी प्रकार कोई परिवार जाति देश उत्तम बड़े २ कार्य करके मान प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकता है। अकेला रहने या विचारने से कोई बड़ा कार्य नहीं हो सकता और नाहीं जाति एकता के सूत्र में बंधकर एकता के गुण को धारण कर सकती। जो अकेला रहेगा वह निकम्मा हो जावेगा। माला के बिखरे हुए मनके की भान्ति अपमानित होगा। क्योंकि देश जाति परिवार की माला बनकर गले का हार न बन सकेगा। जैसे कि पानी की एक बून्द के; अलग रहने में कुछ मूल्य वा शक्ति नहीं है। पृथक् रहने से वह बून्द शीघ्र गन्दी और नष्ट हो जाएगी। परन्तु वही जल की बून्द समुद्र में मिल कर रहने से बड़ी शक्तिशाली और मूल्यवान् बन जाती है। ऐसे ही एक व्यक्ति, जाति देश परिवार के साथ मिल कर कार्य करने से शक्तिशाली और मूल्यवान् बन जाता है और मिल कर किया हुआ ऐसा कार्य भी बड़े भयानक कष्टों का नाशक और अनन्त प्राणियों के लिये सुखदायक हो जाता है। जैसे कि किसी कवि ने उचित ही कहा है।

जहाँ बिखरे हुए गुल हों, जुदा बूटे से बूटा हो।
फना की बिजलियां, क्योंकर न बरसें ऐसे गुलशन पर ॥

राष्ट्र को उन्नति के लिये व्यापार व कौशल की वृद्धि आवश्यक है। इसके बिना किसी राष्ट्र से बेकारी दूर नहीं हो सकती और नाहीं देश में धन रह सकता है, परन्तु यह कार्य कोई एक व्यक्ति बड़े पैमाने पर नहीं कर सकता। एक साधारण दुकान या व्यापार भी अकेले से नहीं चल सकता नाही अकेले से खेती ही हो सकती है फिर एक बड़े देश वा जाति की बेकारी दूर करने वा जीविका प्राप्त कराने के लिये बड़े व्यापार या कारखाने या कम्पनियां बिना संगठन कैसे चल सकती हैं ? और जो व्यक्ति इस संगठनरूप प्राकृत नियम के विपरीत अकेला रहकर ही कार्य करना पसन्द करता है और समझ लेता है कि अकेले अच्छी बीतती है, भोजन वस्त्र ईश्वर की दया से मिलता है। नौकरी या थोड़े व्यापार से अपना तथा परिवार का गुज़ारा अच्छे प्रकार चलता है। मुझे किसी समाज या जाति के साथ संगठित होने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा मनुष्य उस जेल के कैदी की भान्ति जीवन व्यतीत करता है, जिसको अच्छा या बुरा भोजन वस्त्र सरकार से मिल ही जाता है। रात्रि को सोने के लिये स्थान भी मिल ही जाता है। परन्तु २० वर्ष निरन्तर जेल में रहने पर भी न तो वह अपनी उन्नति कर सकता है और नाही परिवार की। उसकी अवस्था उस कोहलू के बैल की भान्ति है जो तमाम दिन चलता है परन्तु मन्ज़िल या लक्ष्य की तरफ एक कदम भी नहीं उठाता। ऐसे व्यक्ति का जीवन

कटता तो है, परन्तु वह जीते हुए भी मृतक के समान है। पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहा है। इस उपरिलिखित अङ्गा अङ्गी भाव में यदि वृद्धि की जावे अर्थात् मनुष्य सांसारिक व्यवहार से थोड़ा ऊपर उठे। क्योंकि मनुष्य विवेक बुद्धि से कार्य ले सकता तो वही अङ्गा-अङ्गी भाव मनुष्य के स्वर्ग प्राप्ति या परलोक सिद्धि का साधन बन जाता है। जैसे हमारे शरीर के किसी अङ्ग का पृथक् होकर जीवित रहना असम्भव है, ऐसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अङ्गों का पृथक् रह कर जीवित या सुखी रहना असम्भव है। हाथ जीवित रह सकता है हाथ वाले के साथ, इसी प्रकार तनिक विचार कर देखें तो पता लगेगा कि हमारा वैयक्तिकजीवन समुदाय के जीवन पर, समुदाय का किसी वृहत् समाज के साथ, और वह वृहत् समाज अन्त को जाकर सारी समुच्चय मानव जाति के जीवन पर निर्भर प्रतीत होगा। राष्ट्र राष्ट्रों के साथ, जातियां जातियों के साथ अर्थात् समुच्चय मानव संसार का अन्तिम हित एक ही है। इस अङ्गा अङ्गी दृष्टि को जरा और विस्तृत कर लिया जावे, तब मनुष्य पशु पौधे वायु जल और पत्थर तक भी एक ही अङ्गी के अङ्ग प्रतीत होंगे जैसे कि कबीर जी ने भी कहा है कि—

डाली छेड़ूं न पत्ता छेड़ूं, ना कोई जीव सताऊं।
पात पात में प्रभु बसत है, ताहि को सीस नवाऊं॥

जिसको इस अलौकिक सम्बन्धों का आनन्द आजावे वह इस लोक से ऊपर उठ जाता है। उसकी दृष्टि यज्ञ दृष्टि अर्थात्

ईश्वरीय दृष्टि हो जाती है, वह यज्ञ रूप विष्णु की भांति आनन्द गुण को प्राप्त कर लेता है। परन्तु किसी भी व्यक्ति या जाति में वह सात्विकवृत्ति अर्थात् यज्ञ दृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, जैसे दाल भाजी में हींग का या घृत अदरक आदि का तड़का लगाने से दाल स्वादु और गुणदायक और उत्तम हो जाती है, ऐसे ही यदि मनुष्य समाज भी बर्तन में दाल की भाँति संगठित हो भी जावे परन्तु इसमें सेवा भाव का तड़का न लगे तो अङ्गा अङ्गी भाव यथार्थ उत्पन्न नहीं होता और ना ही वह समाज या परिवार उत्तम या गुणकारी बनता है। मिल बैठने का रस भी नहीं आता। संसार की प्रत्येक वस्तु अपने लिये भी है और दूसरों की सेवा के लिये भी है। और इस भाव से मिलकर रहने और कार्य करने में ही किसी वस्तु का मान है और इसी प्रकार मनुष्य जीवन आनन्ददायक हो सकता है। जसे शरीर का एक अङ्ग यदि कार्य करने से इन्कार करे तो जहां वह शरीर के दूसरे अंगों की सेवा या सहायता करने से इन्कार करता है, वहां वह स्वयं सूख कर निकम्मा हो जाता है और अन्त को नष्ट हो जाता है। परन्तु जहां उसके अपना कर्त्तव्य पालन करने से अथवा सेवा करने से शरीर का प्रत्येक अंग शक्ति वाला बनता है वहां वह स्वयं भी प्रफुल्लित होता है, उस में कार्य करने की शक्ति बढती है, और शरीर में उ का स्थान बना रहता है। जिस प्रकार हाथ पांवों के कार्य न करने से हाथ पांव सशक्त वा सुन्दर नहीं बनते, अपित व्यायाम

करने से अर्थात् मुख या पेट के लिये भोजन उठाकर लाने से बलवान् होते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति या समाज संसार सेवाभाव से कार्य करता है, वह जहां स्वयं भी आनन्द प्राप्त करता हुआ उत्तम बनता है और दूसरे अंगों को उन्नत करके उत्तम बनाता है, वहां शरीर के दूसरे अंग भी उसको जीवित रखने में सहायक होते हैं। यह सेवा का सिलसिला समस्त संसार में अर्थात् जड़ चेतन समस्त सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रहा है। सूर्य कार्य न करे तो वायु कायम नहीं रह सकती, और यदि वायु न रहे तब भी सृष्टि नहीं रह सकती, अर्थात् सूर्य भी अपना अस्तित्व खो बैठेगा। तात्पर्य यह है कि सब एक दूसरे की सेवा के लिये हैं, और इसी में प्रत्येक के जीवन वा आनन्द की स्थिरता है।

दृष्टान्त—जैसे एक मनुष्य ने गाय को कहा कि तेरा जीवन इसलिये है कि तू दूध देकर मेरी सेवा किया करे और इसी में तेरा मान वा उपयोगिता है, और इसीलिये तेरा संसार में जन्म है। गाय ने भी तनिक विचार कर शान्ति से उत्तर दिया कि हे मनुष्य ! तू भी मेरे लिये अपने सिर पर घास आदि भोजन उठाकर लाता है मेरे भोजन के लिये प्रबन्ध वा यत्न करता है। मेरा मल उठाता है। मेरे ठहरने के स्थान पर सफाई आदि करके मेरी सेवा करता है। तब तुम्हें दूध मिलता है। इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि संसार में सब प्राणी एक दूसरे की सेवा

के लिये और प्रेम से मिलकर रहने के लिये हैं। अन्यथा जो किसी की सेवा नहीं करता, किसी से प्रेम नहीं करता उसकी संसार में अधोगति होती है। उसके गृह में पड़े हुए मृतक शरीर को भी कोई उठाने वाला नहीं आता और ऐसे स्वार्थी वा अभिमानी मनुष्य के मृतक शरीर को उठाने के लिये किराये पर आदमी बुलाने पड़ते हैं। यह प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखा जाता है। ऐसे व्यक्ति की कभी कोई भी कार्य सिद्धि नहीं होती और उसका जीवन निकम्मा और दुःखी हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि इस संसार में सब प्राणी, एक छोटे से कीड़े से लेकर मनुष्य तक, एक दूसरे की सहायता और सेवा के लिये हैं। तब ही वे सुख या आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकते हैं अर्थात् लोक परलोक दोनों उनके सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य जन्म प्राप्त करके जीव का यह कर्त्तव्य है कि एक दूसरे के सुख दुःख में सेवाभाव से सम्मिलित हो छोटा बड़ा, निर्धन धनी का विचार न करके भ्रातृभाव अर्थात् सेवा धर्म के विचार से प्रत्येक प्रत्येक का सहायक हो। धनी निर्धन से, बलवान् निर्बल से घृणा न करे, ग़रीब अमीर सब को सेवा वा सहायता मिले। क्योंकि अमीरी ग़रीबी सदा किसी की नहीं रहती। जैसे किसी कवि ने कहा है कि—

> फ़लक देता है जिसको ऐश, उसको ग़म भी होते हैं।
> जहां बजते हैं नक्कारे, वहां मातम भी होते हैं॥

छोटे बड़ों से द्वेष न करें, सत्यपरायण हों क्योंकि सब

एक ही शरीर के अङ्ग हैं और सब की बराबर आवश्यकता और उपयोगिता है इसलिये सब एक परिवार की भान्ति मुहल्ला गांव नगर या देश जाति के सुख-दुःख में सम्मिलित होकर न्याय नियमानुसार जीवन व्यतीत करके प्रेम वा आनन्द को प्राप्त हों। और सबके संसारिक कार्य भी सुधरते रहें।

अब यहां पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका उत्तर देना परम-आवश्यक है प्रथम बड़े कौन होते हैं जिनसे द्वेष न किया जावे किन्तु सेवा की जावे। दूसरा न्याय नियमानुसार जीवन व्यतीत करने से क्या तात्पर्य है?

धन से कोई व्यक्ति बड़ा अर्थात् माननीय नहीं हो सकता क्योंकि धन तो चोरों डाकुओं और दुराचारियों के पास भी आ जाता है, और फिर धन तो आने जाने वाली वस्तु है। इस पर मान करने वाला और धन के कारण अपने को बड़ा समझने वाला धोखे में है। क्योंकि संसार में धन का सदुपयोग न करने से संसार में द्वेष अवश्य उत्पन्न होता है। इस लिए मनुष्य दो गुणों से बड़ा कहलाता है विद्या वा बुद्धि से।

प्रथम चाहे विद्वान् आयु में छोटा हो सर्वत्र पूजा जाता और उसकी सेवा और मान करना परम आवश्यक है, जिससे वह स्वाध्याय में लगा रहे और विद्या वृद्धि करके संसार में और भावी सन्तति में विद्या संचार लोभ से रहित होकर करता रहे, अर्थात् विद्या को बेचने का भाव

उसमें उत्पन्न ही न हो। क्योंकि विद्या का पति सदाचार है। और जहां लोभ हो वहां सदाचार के पांव टिकने असम्भव हैं। और जैसे पति को छोड़ देने वाली पत्नी स्वयं दुराचारिणी बनती है और संसार में भी दुराचार फैलाती है। ऐसे ही सदाचार के विना विद्या संसार में अनर्थ मचाती है, इस लिये सदाचारी विद्वान् की पूजा और सेवा होनी चाहिये। अर्थात् उसको अपनी जीविका से बेफिकर रखना चाहिये। ऐसे विद्वान् को भी जो कुछ मिले उसपर सन्तोष करते हुए प्रजा की सेवा विद्यादान से पूरे यत्न से करनी चाहिये। ऐसे त्यागी विद्वान् की कोई आवश्यकता अपूर्ण नहीं रह सकती, और वैदिक काल में अपितु उससे बहुत काल पीछे तक भी भारत-वर्ष में विद्या वा कला कौशल आदि के प्रचार की यही प्रणाली चलती रही थी। और ऐसे विद्वानों की संख्या में गुरु पुरोहित संन्यासी वानप्रस्थी और ऋषि मुनि हैं, जिनका कर्तव्य सदा प्रजा और अपने यजमानों का कल्याण ही सोचना और उपदेश करना है।

दूसरा बड़ा मनुष्य – अर्थात् वयोवृद्ध जिनमें माता पिता बहिन भाई पड़ौसी आदि सम्बन्धी तथा मुहल्ला नगर देश आदि के नेता सब आ जाते हैं। जो कि आयु और अपने अनुभव के कारण जनता के मान वा सेवा के अधिकारी हैं। क्योंकि इनको प्रसन्न कर के ही, जो आयु और विद्या तथा अनुभव में अभी छोटे हैं, इन वृद्धों की संगति से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत तथा सफल कर सकते हैं। इनकी यथायोग्य

सेवा न होने से और उनसे द्वेष करने से वृद्ध अप्रसन्न रहेंगे। और वास्तविक लाभ उनके अनुभव का सन्तान वा जनता को न मिल सकेगा। जिसके कारण अज्ञान और मूर्खता जनता में बढ़ेगी, और उसका परिणाम दुःख होगा। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपने से विद्या तथा आयु में जो बड़े हैं, उनकी सेवा पूजा भाव से करे, जो अपने बराबर हैं, उनकी सेवा भ्रातृभाव तथा मैत्रीभाव से करे, और जो अपने से छोटे हैं, उनकी सेवा करुणा तथा दयाभाव से करे जैसे सन्तान की सेवा करनी योग्य है। अर्थात् एक दूसरे की शारीरिक उन्नति वा विद्यावृद्धि तथा जीविका कमाने अर्थात् कला-कौशल और व्यापार खेती आदि के शिक्षण में पूरी २ सहायता करे और यही सच्ची सेवा है। और इसी को पितृ-ऋण से उऋण होना कहा जाता है। इस सेवा भाव और ऊपर लिखित तीनों प्रकार की उन्नति की प्राप्ति या पितृऋण से उऋण होने के लिये जिन ऋषियों मुनियों तथा विद्वानों की रची पुस्तकों से मनुष्य लाभ उठा कर अपने को सुखी बनाता है। उन पुस्तकों का स्वाध्याय करके उनका प्रचार करना यही ऋषि ऋण से उऋण होना है। क्योंकि जिन महात्माओं ने अपने जीवन भर की विद्या वा तपस्या से प्रभु प्रजा के लाभार्थ पुस्तकें रची हैं, उनका स्वाध्याय तथा प्रचार न करना विद्या का लोप करना है और अविद्या तथा अज्ञान का आह्वान करना है। सब से बड़ा ऋषि वह हमारा ईश्वर है, जिस ने मातृ, वात्सल्यवश करुणा से प्रेरित होकर अपना

वेदरूपज्ञान आदि सृष्टि से अपनी मनुष्यरूप सन्तान के लिये देकर परम अनुग्रह किया। इसलिये उस, वेद विद्या का और फिर उसके अनुकूल ऋषिमुनियों के ग्रन्थों का स्वाध्याय न करना और न सुनना, जिन में मनुष्यों के कर्तव्य कर्मों का विधान है, अपने पांवों में अपने आप कुठाराघात करने के समान है। क्योंकि ईश्वर तथा ऋषि मुनि आप्त पुरुषों की आज्ञाओं का भङ्ग करके अर्थात् अपने कर्तव्य कर्मों को न जान कर उलटे कर्म करने से मनुष्य पशुयोनि अर्थात् अत्यन्त दुःख को प्राप्त करते हैं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर। न्याय नियमानुसार जीवन व्यतीत करने का तात्पर्य भी यही है। ऊपर ऋषि ऋण से उऋण होने के विषय में बतलाया गया है कि इस संसार के रचने वाले ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव को जान कर अर्थात् जिस न्याय नियम से वह इस जड़ चेतन संसार की उत्पत्ति वा पालनपोषण करता है या जिस व्यवहार से वह समस्त संसार को चला रहा है उसी व्यावहारिक बुद्धि के अनुसार मनुष्य का चौथा कर्तव्य है। और इसी विद्या को पारमार्थिक या आध्यात्मिक विद्या कहते हैं। और इसी विद्या को जान कर और उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करने में ही प्रभु की प्रसन्नता और भक्ति है, जो कि मनुष्य अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में अर्थात प्रत्येक प्रकार के कारोबार या कार्यक्षेत्र

मेंऔर बस्ती या आश्रम में प्राप्त कर सकता है। क्योंकि जैसे भूमिका में लिखा गया है कि मनुष्य की लोक परलोक सिद्धि कर्त्तव्य कर्मों के ठीक जानने (Sense of duty) और पालन करने में हैं जैसे निम्नलिखित कुछ दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जावेगा।

संख्या १—परमेश्वर उस कारखाने या दफ्तर में वर्तमान है और वहां पर प्रभुभक्ति हो रही है, जहां कार्यालय के सब प्रबन्धकर्त्ता वा लेखक तथा मजदूर या सेवक अपने कर्त्तव्य कर्म को स्मरण रख कर ईमानदारी से अपने कार्य के पूर्ण करने में लगे हैं अर्थात् स्वामी की आज्ञानुसार पूरी शक्ति से कर्त्तव्य पालन में तत्पर हैं।

संख्या २—परमेश्वर उस झोंपड़ी तथा कुटिया में विराजमान है और वहां ईश्वर भक्ति हो रही है; जहां एक निर्धन स्त्री अपने हार्दिक प्रेम से अपने पति के सुखदुःख को अपना सुख दुःख समझती हुई समस्त दिन अपने कर्तव्य कर्म में लगी रहती है। और पति की थोड़ी कमाई से ही प्रत्येक प्रकार से सन्तुष्ट है। कोई शिकायत मुख से नहीं निकालती।

दृष्टान्त ३—परमेश्वर उस डाक्टर या वैद्य के घर में बसता है और वहां प्रभुभक्ति हो रही है, जिस डाक्टर के दरवाज़े पर कोई व्यक्ति ५) रुपये लिये खड़ा है और फीस देकर उसको अपने घर लेजाने के लिये प्रार्थना कर रहा है परन्तु साथ ही एक विधवा या अनाथ बालक खड़ा

है जो फीस नहीं दे सकता। परन्तु प्रार्थना कर रहा है कि मेरी माता सख्त बीमार है और वह निर्बलता के कारण यहां पर चलकर नहीं आसकती। परन्तु जो डाक्टर वा वैद्य फीस देने वाले को यह कह कर छोड़ देता है कि तुम्हारे पास रुपया है, तुम और डाक्टर भी बुला सकते हो, मैं प्रथम इस बालक के साथ जाकर इसकी बीमार निर्धन माता को देखूंगा और प्रसन्नता से जाकर रोगी को देखता और चिकित्सा करता है, वह डाक्टर प्रभुभक्ति कर रहा है वहां पर धन की भी कमी नहीं रहती। क्योंकि जहां सन्तोष है, प्रभुप्रजा में प्रेम है, वहां परमेश्वर वास करते हैं। ऐसे डाक्टरों की कामनाएं सर्वदा पूर्ण होती हैं तथा आत्मिक शान्ति अर्थात् प्रभु की प्रसन्नता और भक्ति भी बढ़ती जाती है।

संख्या ४—एक दूकानदार या व्यापारी जब ठीक बोलता और ठीक तोलता है। बच्चा हो बूढ़ा हो, मूर्ख हो या विद्वान्, वह किसी से धोखा नहीं करता, चाहे सामने निरख फैसला करके और तुलवा कर ले जावे या ग्राहक की अनुपस्थित में या पत्र आने पर माल भेजा जावे जैसा नमूना दिखाया या स्वीकार किया है; वैसा ही माल हज़ारों मीलों दूर बैठे हुए ग्राहक को भेज रहा है। वह न्याय नियमानुसार जीवन व्यतीत कर रहा है इस लिये उस दूकान में सत्य स्वरूप ईश्वर विद्यमान् है। और वह व्यापारी प्रभुभक्ति कर रहा है।

संख्या ५—जब कोई न्यायाधीश या जज केवल न्याय

पर ही ध्यान रख कर कुर्सी पर बैठा कार्य कर रहा है, रिश्वत या खुशामद अथवा सिफारिश के वश होकर न्याय से विचलित नहीं होता' वहां ईश का वास और वहां पर प्रभु भक्ति हो रही है।

संख्या ६—जब एक सिपाही अपनी (Duly) कर्तव्य स्थान पर खड़ा हुआ अपना कर्तव्य पालन कर रहा है। अपनी ड्यूटी से गाफिल नहीं होता, आराम तलब नहीं बनता। रिश्वत के नाम से कांपता है, अथवा लड़ाई में एक आततायी को तलवार या बन्दूक से दण्ड देकर पीड़ित प्रजा की रक्षा कर रहा है, जिस में सिपाही का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, वह सिपाही प्रभु भक्ति कर रहा है।

संख्या ७—एक अध्यापक या प्रोफेसर अपने विद्यार्थियों को किसी लोभ लालच या पक्षपात के भाव को छोड़ कर अपने हृदय को खोल कर अपनी सर्व विद्या देने में प्रयत्नशील है। हर समय शिष्यों के कल्याण की भावना में विचरता और शिक्षा देता है, अर्थात् ईमानदारी से कर्तव्य पालन कर रहा है ऐसा अध्यापक प्रभु भक्ति कर रहा है।

संख्या ८—एक वकील या बैरिस्टर यदि सत्य वा न्याय की स्थिरता अथवा वृद्धि के लिये वकालत करता है अर्थात् पीड़ित या सच्चे की रक्षा और अपराधी वा अन्यायी को दण्ड दिलवाने क लक्ष्य से कार्य करता है, चाहे पीड़ित और सच्चा व्यक्ति ग़रीब हो और कुछ भी न दे सके तो भी उसकी

सहायता करता है, अन्यायी वा आततायी चाहे अधिक धन भी देवे तो भी उसके पक्ष का समर्थन नहीं करता, ऐसे वकील की वाणी में साक्षात् प्रभु विराजमान है, और वह प्रभु भक्ति कर रहा है।

संख्या ६—एक विद्यार्थी जो मन वचन कर्म से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ, विद्याध्ययन में इस लिये लगा हुआ है, कि विद्या प्राप्त करके देश जाति की विद्या प्रचार द्वारा सेवा करूंगा, वह प्रभु भक्ति कर रहा है। क्योंकि विद्या की समाप्ति होने पर और कार्य क्षेत्र में यदि अधिक धन की प्राप्ति नहीं होती तो भी सन्तुष्ट रहता है, और थोड़े में निर्वाह करके आनन्द से जीवन व्यतीत करता है। उसी के साथ दूसरा विद्यार्थी जो इस विचार से विद्याध्ययन करता कि विद्याध्ययन की समाप्ति के पश्चात् कोई बड़ी नौकरी मिल जावेगी और धन प्राप्त करके बंगला बना कर आनन्द से रहूंगा और बगीचा लगवाऊंगा और मोटर रक्खूंगा इस प्रकार एक बड़ा आदमी बनूंगा। परन्तु जब आमदनी कम होने पर उसकी सब इच्छाएं अपूर्ण रहती ह तो समस्त जीवन दुःखी ही रहता है। इस लिये सुख वा आनन्द या प्रभुभक्ति मनुष्य के सात्विक लक्ष्य के आधीन है।

संख्या १०—एक संन्यासी वानप्रस्थी या उपदेशक अपने आश्रम धर्म का पालन करता हुआ, जिस नगर के अन्न जल से अपनी जीवन यात्रा करता है, वहां की जनता के कल्याण

के भाव से प्रतिदिन कुछ सुधार या सेवा करके अपने को सन्तुष्ट कर लेता है। और सत्य के प्रचार करने में किसी बड़े से बड़े शक्तिशाली या धनी मानी से नहीं डरता, वह प्रभु भक्ति करता है।

संख्या ११—किसी गांव या नगर में यदि किसी भंगी धोबी नाई आदि गरीब के घर चेचक, हैज़ा या प्लेग आदि रोग आ जावें तो उस गांव के नम्बरदार या धनी मानी गांव के पुरुष का कर्तव्य है कि और सब काम छोड़ कर उस गरीब के इलाज करवाने आदि से उसकी सहायता करे और उसके स्थानादि की सफाई आदि करा के प्रत्येक प्रकार से सेवा करे जिससे जहां गरीब की सेवा हो और सहायता हो और ऐसा प्रबन्ध करें जिससे उसके नगर में रोग न बढ़ने पावे। और ऐसे पवित्र कार्य में धन खर्च करना प्रभु भक्ति है जिसके फल-स्वरूप उसके घर में भी रोग के कृमि न आने से सुख आनन्द रहेगा। इस प्रकार की वृत्ति वाले मनुष्य के गृह में ईश्वर वास करते हैं, चाहे वह धन से गरीब ही हो।

संख्या १२—समुद्र में एक बार किसी जहाज में आग लग गई। कप्तान ने खतरे की घंटी बजा दी। उस जहाज में ३०० या ४०० स्त्री-पुरुष यात्रा कर रहे थे। कुछ यात्रियों ने कप्तान से पूछा कि कोई रक्षा का उपाय भी हो सकता है? कप्तान ने कहा एक ही उपाय है। यदि ड्राइवर दुगुनी गति से जहाज को चलावे तो बहुत थोड़े से काल में किनारे पर

पहुंच सकते हैं। ड्राईवर से प्रार्थना की गई और उसने दुगुनी गति से जहाज चलाना आरम्भ कर दिया। जहाज के निचले भाग में आग लगने के कारण धुंआ आ रहा था और उससे ड्राइवर को कष्ट हो रहा था, जिससे उसका सांस घुट रहा था। कप्तान ड्राईवर को थोड़ी थोड़ी देर पश्चात् आवाज़ देता और ड्राईवर केवल 'हूं' शब्द बोलता जाता था। कुछ देर पश्चात् धुएं ने ड्राईवर की आवाज़ बन्द कर दी अर्थात् 'हूं' का शब्द भी बन्द हो गया। परन्तु जहाज बराबर उसी तीव्र गति से चल रहा था, क्योंकि ड्राईवर ने हैण्डल नहीं छोड़ा था और यद्यपि नीचे से आग की गर्मी के कारण पांव भी झुलस रहे थे, परन्तु ड्राईवर के मन में एक भाव था कि मेरे थोड़े कष्ट उठाने से ३०० या ४०० भाई बहिनों के जीवन बच सकते हैं। इस लिये ड्राईवर अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहा और कुछ देर पश्चात् जहाज़ किनारे पर जा लगा। परन्तु जब ड्राईवर को देखा गया तो वह धुंए से बेहोश था, और घुटनों तक उसका शरीर आग की गर्मी से झुलसा हुआ था। ड्राईवर को पीछे होश में लाया गया परन्तु उस अवस्था में भी वह प्रसन्न था। क्योंकि उसने अपने जीवन को खतरे में डाल कर दूसरों के जीवन बचाने को अपना कर्त्तव्य कर्म समझा था। उसका आनन्द उसको किसी भी मूल्य पर मिलना कठिन ही नहीं, किन्तु नितान्त असम्भव था। यह आत्मा का प्रसाद मनुष्य ही ले सकता है अर्थात् वही इस आत्म प्रसाद को प्राप्त

कर सकता है और जहाँ इस कर्त्तव्य पालन की क्रिया हो रही है वहाँ पर प्रभुभक्ति हो रही है।

संख्या १३—एक व्यक्ति बहुत ही दरिद्र है। बड़ी कठिनता से उसको पेट भर अन्न मिलता है। परन्तु अपने से भी अधिक गरीब वा भूखे को देख कर यदि वह अपना आधा अन्न दूसरे भूखे को इस भावना से देता है कि उसकी आवश्यकता मुझ से अधिक है। अथवा ग्रीष्म ऋतु में एक प्यासे मनुष्य या पशु को भी जो कि प्यास से व्याकुल हो रहा है अपने बर्तन या घड़े में से जिसमें आगे ही थोड़ा जल है उसमें से कुछ जल पिला कर उसके प्राण बचा लेता है, यह गरीब भी प्रभुभक्ति करता है। उसकी झोंपड़ी में भी ईश्वर का वास है।

[८]

पांचवां कर्त्तव्य

देवपूजा

ऊपर लिखा गया है कि ऋणी सुखी नहीं हो सकता और कर्त्तव्य ही ऋण है। इसलिये कर्त्तव्य पालन ही धर्म है अर्थात् जो कर्त्तव्य या धर्म का पालन नहीं करता, वह सुखी नहीं रह सकता। यह भी बतलाया गया है कि मनुष्य के मुख्य ऋणों में से मुख्य ऋण या प्रथम देव-ऋण है। और देवता भी दो प्रकार के हैं, एक चेतन दूसरे जड़। चेतन देवताओं के विषय में कुछ ऊपर लिखा गया है। अब जड़ देवता कौन से हैं, उनके प्रति मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, उसका पालन किस प्रकार किया जावे, इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न किया जावेगा। जैसे कि आगे लिखा गया है कि मनुष्य का कोई कार्य दूसरे से सेवा या सहायता लिये बिना नहीं चल सकता अपितु मनुष्य की जीवन यात्रा भी नहीं चल सकती है। और मनुष्य क्योंकि उत्तम बनना चाहता है,

ऊंचा उठना चाहता है अर्थात् देवता बनना चाहता है, इसी लिये संसार का प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी देवता की उपासना या भक्ति करता हुआ दृष्टिगोचर होता है (चाहे वह गुरु स्त्री पुत्र धन या शासन या किसी मूर्त्ति की सूरत में हो) जैसे चेतन देवताओं की उपासना या भक्ति करने का तात्पर्य यह है कि उनके गुण कर्म स्वभाव को जान कर उस गुण कर्म स्वभाव को अपने जीवन में धारण कर लाभ उठाया जावे। परन्तु लाभ तब उठाया जा सकता है जब मनुष्य के अन्दर देवताओं के गुण कम स्वभाव के प्रतिकूल जो गुण कम स्वभाव हैं, उनको निर्बल कर दिया जावे, या बिलकुल निकाल दिया जावे। ऐसे ही सृष्टि के जड़ देवताओं की उपासना या भक्ति या उनके प्रति मनुष्य का कर्तव्य यह है कि उन जड़ देवताओं के प्रतिकूल स्वभाव वाले परमाणुओं को अपने अन्दर आने ही न दे, या निर्बल कर दे अथवा निकाल दे और उनके अनुकूल स्वभाव वाले परमाणुओं के आह्वान के लिये यत्न करे, अर्थात् उन जैसा ही स्वभाव बनावे, तब ही मनुष्य का जीवन उत्तम हो सकता है।

अब देखना यह है कि कौन से मुख्य जड़ देवता हैं जिनकी सेवा या सहायता मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा के लिये लेनी पड़ती है। सूर्य अग्नि बिजली आदि वायु जल पृथिवी और पृथिवी से उत्पन्न-अनाज फूल फल औषधि-आदि। इन जड़ देवताओं के गुण कर्म स्वभाव जानने के लिये, पहले देवता शब्द के अर्थ ही जानने

की आवश्यकता है। क्योंकि उसी से उनके गुण कर्म स्वभाव का भी पता लग जावेगा। देवता शब्द दिवु धातु से बनता है। इसके अर्थ निम्न प्रकार हैं।

(१) दानाद् देवता भवति, अर्थात् जो देता है। (२) दूसरा दीपनाद् देवता भवति, अर्थात जो प्रकाशित करता है। (३) द्योतनाद् देवता भवति अर्थात् जो स्वयं अपने दिव्य गुणों से प्रकाशमान होता है। (४) द्युस्थानो भवति देवता अर्थात् जो ऊपर उठा हुआ होता है। जो क्रीड़ा करता है। अर्थात् दूसरों को गति देना, खिलाड़ी, खेल खेलने वाला अर्थात् जिस में आलस्यादि दुर्गुण न हों। नियमपूर्वक गति या व्यवहार करने वाला अर्थात अपने नियम या प्रतिज्ञा पर अटल रहने वाला हो और . ो से न दबने वाला अर्थात् स्वतन्त्र रहने वाला हो अर्थात् जिसमें दिव्यगुण हों।

इसी प्रकार यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में देवता के लक्षण वर्णन किये गये हैं।

ओं देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्, देवानां रातिरभिनो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।

जो मन वचन कर्म में एक हैं ऐसे देवताओं की कल्याण करने वाली बुद्धि हमें प्राप्त हो। ऐसे विद्वानों का दान हमें प्राप्त हो। ऐसे देवताओं की मैत्री हमें प्राप्त हो। देवताओं की आयु हमें प्राप्त हो। यहां इस मन्त्र में देवता शब्द के निम्न विशे-

षण दिये हैं। ऋजूयताम् जो मनवाणी और कर्म में सरल हैं अर्थात् जिस से किसी को धोखे की सम्भावना नहीं है। भद्रामतिः! दूसरों का सर्वदा कल्याण करने वाला परोपकार करने वाला। विद्वान् अर्थात् दूसरों के अज्ञानान्धकार को मिटाने वाला स्वयं ज्ञानवान्। ऊपर लिखे देवता शब्द के अर्थों से ज्ञात होता है कि सारे गुण ऊपर वर्णित जड़ देवताओं में दृष्टिगोचर होते हैं अर्थात् (१) वे सदा और सब को देते हैं किसी का भी पक्षपात नहीं करते और किसी को अपने फल या गुण देने से इन्कार नहीं करते (२) वे सदा सबके लिये प्रकाश करते हैं, ज्ञानवृद्धि में सहायक होते हैं, अज्ञान अन्धकार और रोग की निवृत्ति करते हैं (३) सदा सब को बल शक्ति देकर उत्तम या ऊपर उठने में सहायक होते हैं। (४) सब प्रकार के कष्टों से सब को निरन्तर बचाते हैं क्योंकि इनकी सहायता न लेने से या कम लेने से ही सब कष्ट या रोग आते हैं। (५) ये स्वयं गति करते है और इन की सहायता से ही सब प्राणि गति करते हैं, संसार का खेल खेलते हैं। अर्थात अपना कारोबार या कर्त्तव्य पालन करते हैं। (६) अपना व्यवहार नियमानुसार करते हैं। किसी की सिफारिश या खुशामद या लोभ के कारण अपने नियम का भंग नहीं करते। सदा नियम पालन में उद्यत रहते हैं। (७) किसी से भय नहीं करते, इसलिये दबते भी नहीं अर्थात् सदा स्वतन्त्रता से और सरलता से व्यवहार करते हैं। यदि इन सब लक्षणों को एक शब्द में वर्णन करना हो तो यह कहा—

जा सकता है कि ये सब जड़ देवता यज्ञ कर रहे हैं। अर्थात् ऋषियों के इस कथनानुसार (यज्ञो वै विष्णुः) ईश्वर यज्ञ स्वरूप है। जैसा व्यवहार वह इन देवताओं का स्वामी जगत् रचयिता विष्णु संसार में कर रहा है वैसा ही व्यवहार में उसके सेवक जड़ देवता कर रहे हैं। और इसी लिये इनको देव पदवी प्राप्त हुई है।

अब प्रश्न यह है कि जब जड़ देवता उस जगन्नियन्ता जगदीश्वर के नियम या आज्ञानुसार इस संसार को उत्तम या शक्तिशाली बनाने में, अथवा एक छोटे से कृमि से लेकर मनुष्य तक प्राणिमात्र की सेवा और सहायता में दिन रात तत्पर रहते हैं। अपने कर्तव्य से कभी नहीं चूकते, आलस्य नहीं करते। अर्थात् उस जगन्माता की यज्ञ पूर्ति में प्रत्येक समय यज्ञरूप होकर आहुति बन रहे है। यद्यपि वे अपनी जगन्माता को जानते पहिचानते भी नहीं, तो इस मनुष्य का इन देवताओं के प्रति क्या कर्तव्य है जो कि मननशील है। उस जगन्माता का अमृत पुत्र है और जिसके कल्याण मङ्गल का धाम आनन्द की प्राप्ति के लिये यह संसाररूप यज्ञ उस जगन्माता ने रचा है। तो इस का उत्तर केवल एक ही हो सकता है जैसा कि किसी ऋषि ने कहा है-—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥

ऋषिवर कहते हैं कि हे मनुष्यो! हम तुमको धर्म का

तत्त्व अर्थात सार बतलाते हैं। तुम उसको सुनकर अपने जीवनों में धारण करो। जो व्यवहार तुम्हारी आत्मा के लिये प्रतिकूल है; अर्थात् जिसको तुम अपने लिये लाभदायक नहीं समझते उस व्यवहार को तुम दूसरों के साथ भी मत करो। ऐसा ही अङ्गरेजी में किसी महापुरुष ने भी कहा है Do as you would be done by अर्थात् दूसरों से ऐसा व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें। जब मनुष्य यह चाहता है और इसी में उसका कल्याण वा जीवन है कि ये जड़ देवता उसके साथ यज्ञरूप होकर रहें तो मनुष्य के लिये भी उचित या आवश्यक है, कि वह इन जड़ देवताओं के प्रति यज्ञरूप होकर रहे। अर्थात अपना जीवन यज्ञरूप हो कर व्यतीत करे और इसीलिये शास्त्रकारों ने मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य या धर्म यज्ञ करना कहा है। जड़ देवताओं के यज्ञ का सब से छोटा स्थूल रूप अग्निहोत्र है, जिसकी सृष्टि के यज्ञ का एक नमूना Symbol कह सकते हैं जैसे सारी सृष्टि ईश्वर का एक शरीररूप है परन्तु उसका छोटा सा Model या नमूना यह मनुष्य का शरीर है अर्थात् जैसा ब्रह्माण्ड में वैसा ही मनुष्य शरीर रूप पिण्ड में प्रभु जगत रचयिता की सब कृत्य और शक्तियां विराजमान हैं। (यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे) ऐसे ही जड़ देवताओं के सब कृत्य वा शक्तियां और लक्षण वा लाभ इस अग्निहोत्र में चिह्न या Symbol रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे एक से लेकर दस तक गणना को ठीक जान लेने से

वा उपयोग में लाने की विधि के ज्ञान से गणित की विद्या भी मनुष्य जान लेता है। ऐसे ही अग्निहोत्र की विधि को यथार्थ रूप में जानने और नियम पूर्वक यज्ञ भावना को दृष्टि में रखते हुए यज्ञ कर्म करने से मनुष्य लोक और परलोक की सिद्धि का कोई चिह्न या Symbol रूप दिग्दर्शन भी कर सकता है और जड़ देवताओं के प्रति अपना कर्तव्य पालन भी कर सकता है। अर्थात् ऋण भी चुका सकता है। इस कथन की पुष्टि में अग्निहोत्र के कुछ लाभ नीचे लिखे जाते हैं। जिससे पाठकों को ज्ञात हो जायेगा कि जैसे काले बादलों में भी कभी २ बिजली चमक कर सबको दृष्टिगोचर हो जाती है, ऐसे ही अग्निहोत्र रूप यज्ञ ही मनुष्य के लोक परलोक या अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का किंचिन्मात्र दिग्दर्शन कराने का साधन बन जाता है। इसी विषय पर माण्डूक्य उपनिषद् के कर्त्ता एक श्लोक में लिखते हैं कि—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् तत्र नयन्त्येताः, सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां तेरकोऽधिवासः।

ये चमकती हुई यज्ञ की ज्वालाएं यजमान की ठीक समय पर आहुतियों सहित सूर्य की रश्मियों द्वारा उस स्थान पर ले जाती हैं, जहां देवताओं का पति वास करता है और ईश्वर से मिलाप कराने का साधन बन जाता है।

संख्या १——इस दृश्यमान जड़ चेतन संसार के जीवन वा

पुष्टि के लिये सब से उपयोगी और प्रथम देवता अग्नि है जिसका सब से बड़ा पुञ्ज सूर्य और सब से सूक्ष्म अंश विद्युत् है। जिसके प्रकाश से संसार के सर्व पदार्थों का प्रकाश होता है अर्थात् रूप रंग और पहचान होती है। इसी अग्नि की स्थापना से सर्व प्राणधारियों को प्राण या जीवन मिलता है, जड़ पदार्थों और वनस्पति आदि औषधियों की स्थिरता भी इसी देवता के कारण से है। अर्थात् इसी अग्नि से ही सारे जड़ चेतन संसार की रक्षा वा पालन पोषण होता है और जहां यह है वहां अज्ञान, अन्धेरा दुःख रोग मलिनता निर्बलता नहीं ठहर सकती, ये सब विकार वहां ही उत्पन्न होकर स्थिर रह सकते हैं कि जहां किसी शरीर में या वस्तु में अग्नि निर्बल हो जावे अथवा अग्नि पर मिट्टी पड़ जावे दब जावे या उसके आगे पर्दा आजावे। इस लिए यदि कहा जावे कि इस जड़ चेतन संसार का अग्नि ही आधार है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकार मनुष्य के इस सर्वोत्तम कर्म यज्ञ का आधार भी यह स्थूल अग्नि ही है जो प्रतिदिन घर में जलाई जाती है। इसके बिना कोई यज्ञ या अग्नि-होत्र नहीं हो सकता। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यज्ञ कर्म या अग्निहोत्र मनुष्य का सर्वोत्तम कर्म कैसे है और इस कर्म से उपरिलिखित जड़ देवता सूर्य वायु जल पृथ्वी वनस्पति आदि की पूजा या उपासना कैसे होती है और फिर यही यज्ञ-कर्म ऊपर लिखे माण्डूक्य उपनिषद् के श्लोकानुसार सर्व जड़ चेतन देवताओं के प्रति जगदीश्वर की समीपता का साधन कैसे बन जाता है।

संख्या २—अब यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है और यह एक अटल सिद्धान्त है कि कोई स्थूल वस्तु अपने से सूक्ष्म वस्तु के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती। अपितु सूक्ष्म वस्तु ही स्थूल वस्तु में प्रवेश करती है और इन स्थूल भूत अर्थात् अग्नि, जल वायु पृथ्वी और इन से उत्पन्न अन्न फूल फल वनस्पति की पूजा या उपासना का तात्पर्य यह है कि इनको पवित्र रक्खा जावे, क्योंकि जैसा भोजन के विषय में लिखा गया है, कि जहां पवित्रता है वहां की शक्ति सुन्दरता का वीरांगना है और वही किसी वस्तु का प्राकृत या वास्तविकरूप है और किसी शक्ति या वस्तु का प्राकृत या वास्तविक रूप या प्राकृतरूप में रखना ही उसकी उपासना या पूजा है। अर्थात जो किसी वस्तु या शक्ति के वास्तविक प्राकृतरूप में मलिनता या उसके गुण कर्म स्वाभाव के प्रतिकूल परमाणु प्रविष्ट हो गये हैं, उनको निकाल दिया जावे और आगे उनके प्रवेश का द्वार बन्द कर दिया जावे, तब ही वह वस्तु या शक्ति संसार के लिये कल्याणकारक हो सकती है अर्थात् संसार उस शक्ति या उसके गुण कर्म स्वभाव से लाभ उठा सकता है। क्योंकि विकार अमृत को भी विष बना देता है। अब यह विचार करना है कि संसार के सब स्थूल पदार्थ जिन पर प्राणिमात्र के जीवन का आधार है और वायु जल पृथिवी आदि भूत जो कि इन स्थूल पदार्थों के भी आधार इन सब के विकारों को दूर करने की सब से उत्तम विधि

क्या है। इस कृत्य की सब से उत्तम विधि अग्निहोत्र ही है, अर्थात् विकारी निर्बल या दुर्गन्धियुक्त तत्त्व को परमाणुओं में से पृथक् कर देना और पवित्र सुगन्धित परमाणुओं का विशेष-तथा प्रवेश कर देना। और इस कार्य के लिये अग्नि से बढ़ कर और कोई सहायक नहीं है। क्योंकि अभी तक संसार के किसी बड़े से बड़े वैज्ञानिक ने भी ऐसा कोई आविष्कार नहीं किया है जो बिना अग्नि की सहायता के स्थूल पदार्थों अर्थात् सुगन्धित पुष्टिकारक औषधियों तथा घृत आदि को इतने सूक्ष्म परमाणुओं में तत्काल परिवर्तित करदे जो कि वायु जल पृथिवी आदि के साथ एक रूप होकर जहां इनको भी पवित्र नीरोग और शक्तिशाली बना देवे, वहां मनुष्य के उपयोग में लाने वाले संसार की सब स्थूल औषधियां फूल फल अनाज आदि को पवित्र करके प्राणिमात्र के शरीरों को स्वस्थ वा नीरोग बनाने में सहायक हो। इस के अतिरिक्त जो भी कोई विधि उपयोग में लाई जावेगी वह इतनी उपयोगी नहीं होगी अर्थात् हानि अ... और लाभ कम होगा।

संख्या ३—जंगल में उगी हुई या पड़ी हुई औषधियां या किसी स्थान में अथवा बोरियों में पड़े हुए सुगन्धित या पुष्टिकारक पदार्थ स्वयं परमाणुरूप में इतनी जल्दी परिवर्तित नहीं होते। सूर्य की गर्मी भी उनको शीघ्र या इतनी सूक्ष्म नहीं कर सकती और इस प्रकार से पदार्थों का स्थूलभाग मिट्टी आदि में मिल जाने से उसका सदुपयोग न हो सकेगा। परन्तु

यज्ञ विधि से अग्निहोत्र की "अग्नि में पदार्थ विधि अनुसार अग्नि के प्रचण्ड होने पर ही डाले जावेंगे तो अग्नि उन पदार्थों को अपने जैसा सूक्ष्म करके तत्काल ही वायु के अन्दर प्रवेश करा देगी और किसी पदार्थ का दुरुपयोग न होगा तथा किसी प्रकार की सामग्री भी व्यर्थ न जावेगी और इस प्रकार वे परमाणु संसार की सब जड़ चेतन सृष्टि को पवित्र करने का साधन बरतेंगे। इसलिए सृष्टि के कल्याण के लिये यज्ञ से बढ़ कर और कोई विधि न संसार में आज तक प्रचलित हुई है, और न हो सकेगी।

संख्या ४—संसार के रोगों की निवृत्ति के लिये आज तक जो २ साधन उपयोग में लाये गये हैं यथा (१)—अनाज फूल फल औषधि आदि का सेवन। (२)—औषधियों को जल में घोट पीस कर उपयोग में लाना। (३)—ओषधियों को बहुत सूक्ष्म करके जल में मिला कर रोगी के रक्त में प्रविष्ट करना या (Inject) करना जिससे औषधि रक्त में शीघ्र प्रवेश करके शीघ्र लाभ पहुंचावे। (४)—औषधि को उबलते जल में डाल कर उसकी वाष्प को मनुष्य के श्वासों के द्वारा अन्दर प्रवेश कराना जिसको अङ्गरेजी में (Inhale) करना कहते हैं अथवा किसी औषधि का सूंघना क्योंकि श्वास के अन्दर किसी औषधि का प्रवेश कर देने से बहुत शीघ्र ही पांच प्राणों के साथ मिल कर वह औषधि तत्काल रक्त या शरीर में मिलकर एक रूप धारण कर लेती है और यही सब से

उत्तम विधि रोग के निवारण की इस समय संसार के वैद्यों तथा डाक्टरों ने बतलाई या प्रचलित की है। और यही लाभ वा सिद्धि अग्निहोत्र व यज्ञ से वैदिक काल में प्राणि मात्र को बिना पक्षपात के प्राप्त होती रही है, और अब भी हो कती है।

संख्या ५—कोई गृहस्थी चाहे वह धनी या चक्रवर्ती राजा ही क्यों न हो जो उत्तम पदार्थ खीर, पूरी, हलवा, मिठाई आदि उसके घर में बनते हैं, जिसको उसकी इच्छा होगी उसको देगा। और जिसके लिये उसकी इच्छा न होगी उसको नहीं देगा। जिससे उसकी मित्रता होगी उसको बुलाकर भी खिलायेगा और जिससे अमित्रता या रोष होगा उसको नहीं खिलायेगा चाहे वह साथ के मकान या कमरे में ही रहता हो, चाहे वह अपना निकट सम्बन्धी माता-पिता, पुत्र-पुत्री या स्त्री ही क्यों न हो। और इसी प्रकार यदि कोई चक्रवर्ती राजा भी चाहे कि उसके अत्यन्त उत्तम भोजन का स्वाद या भाग उसकी प्रजा को भी मिल जावे तो वह अपनी इस इच्छा को किसी प्रकार भी पूर्ण नहीं कर सकता। परन्तु उन उत्तम पदार्थों को यदि यज्ञ की आहुति बना दिया जावे, तो वही पदार्थ सूक्ष्म परमाणुओं में परिवर्तित होकर वायु द्वारा केवल मनुष्य प्रजा को ही नहीं अपितु पशु पक्षी और वनस्पति तक को भी प्राप्त हो जायेंगे। अर्थात् मित्र, अमित्र सारे संसार की रक्षा वा पुष्टि के साधन बनेंगे। इसके अतिरिक्त विशेष बात यह है कि

यदि उस यज्ञ करने वाले यजमान की इच्छा किसी और त्र को भोजन देने की न हो अथवा किसी अमित्र को उसके गृह का भोजन खाने की इच्छा न हो तो यत्न करने पर भी कोई संसार का व्यक्ति या शक्ति इस यज्ञ या अग्नि में प्रदत्त परमाणुओं द्वारा प्राप्त भोजन के ग्रहण करने से इन्कार नहीं कर सकतो। और वह चाहे या न चाहे वह यज्ञ उसकी रक्षा और पुष्टि मे अवश्य सहायक होगा। और इसके परिणाम स्वरूप मित्र हो या अमित्र उसको यज्ञ तथा यजमान की स्तुति करनी ही पड़ेगी और कोई अमित्र भी पवित्र सुगन्धि आने पर यजमान को आशीर्वाद दिये बिना नहीं रह सकता। अब पाठक स्वयं ही विचार करें कि इससे उत्तम और आवश्यक कर्म मनुष्य के लिए और कौनसा हो सकता है। इसीलिये यज्ञ को सर्वोत्तम कर्म कहा गया है, और प्रतिदिन सायं प्रात अग्निहोत्र करना वेद और ईश्वर की आज्ञानुसार मनुष्य का कर्तव्य नियत किया गया है, और इसी वेदाज्ञानुसार गीता व मनु जी आदि स्मृतिकारों ने भी लिखा है कि जिस गृह में प्रतिदिन अग्निहोत्रादि यज्ञ होते है वह स्वर्ग तुल्य है और जो गृहस्थी अग्निहोत्रादि यज्ञ करके भोजन करता है वह अमृत खाता है और जिस गृह में अग्निहोत्रादि यज्ञ नहीं होते वह गृह श्मशान के समान है। और जो भोजन उस गृह में बनता है वह विष के तुल्य है, और ऐसे गृहस्थी पापमय भोजन करते है।

संख्या ६—प्रत्येक स्त्री पुरुष दिन रात अपने मलिन विषमय श्वासों को वायुमण्डल में छोड़ता है इसके अतिरिक्त मलमूत्र थूक स्वेद आदि कई प्रकार से, संसार के वायुमण्डल को अपवित्र करता है, और उसी अपवित्र वायु के परमाणु जल पृथिवी अथवा खाद्य पदार्थों में जाकर संसार के रोग वा अल्प आयु का कारण बनते हैं, जिससे संसार में अग्निहोत्र न करने वाला व्यक्ति वा उसका परिवार भी सम्मिलित है। चूंकि मनुष्य के जीवन की स्थिति के लिये सब से आवश्यक भोजन पवित्र वायु ही है। जसके मलिन होने पर अथवा किसी कमरे में Carban यानी विषमयी वायु के होने पर कुछ अल्प काल भी मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता। चाहे उसके या उसकी सन्तान के खाने पीने वा पहनने के लिये अमूल्य पदार्थ उपस्थित हों। परन्तु वायु के मलिन होने पर सारा परिवार निर्बल रोगी पीला जर्द और अल्प आयु वाला होगा और वह गृह सदा एक रुग्णालय ही बना रहेगा खाने पीने तथा पहनने के सब सामान होते हुए भी किसी रस का उसको आनन्द नहीं मिलता। परन्तु पवित्र वायु की प्राप्ति पर सादा, कम मूल्य का भोजन और सादा वस्त्र और छोटी सी कुटिया भी ग्रामीण जनता के लिए वास्तविक आनन्द वा नीरोगता का साधन बनी रहती है। इसीलिए मनुष्य का जैसे मलिन कपड़े को धोना अर्थात् पवित्र करना शरीर का स्नान करना, दांतों को दन्तधावन से और पाठशाला

आदि स्थान को झाड़ू से नित्य प्रति पवित्र करना उसके अपने लिए तथा संसार के कल्याण के लिए आवश्यक है। और जो मनुष्य इन नित्य कर्मों को नहीं करता वह अपना वा संसार का परम शत्रु है क्योंकि संसार की मलिनता में वृद्धि करके कई प्रकार के रोगों का आह्वान करता है और उसकी देखा-देखी उसका परिवार और अन्य जनता भी उसका अनुसरण करके अपने गृह और उस संसार रूप जगन्माता की वाटिका को मलिन करने में सहायक होते हैं। ऐसे ही प्रत्येक स्त्री पुरुष का कर्त्तव्य है कि प्रतिदिन अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्म करके वायु को पवित्र करे और इस वायु के अपवित्र करने के पाप से बचे। अन्यथा ईश्वरीय प्राकृत नियमानुसार उसके फल भोगने से कोई भी सांसारिक शक्ति उनको बचा नहीं सकती।

संख्या ७—ऊपर बतलाया गया है कि इस मनुष्य का उस जगदीश्वर के साथ माता पिता वा पुत्र का सम्बन्ध है और यह सारा जगत् इसी जीवात्मा के कल्याण के लिये बनाया गया है और वह जगत्-स्वामी अपनी प्रतिज्ञानुसार अपना कर्तव्य पालन करता हुआ चला जाता है, अर्थात् अपनी जीवरूप सन्तान को नीरोग वा सुखी रखने के लिये मनुष्य शरीर में जीव के लिये सर्वोत्तम साधन चूंकि वायु है उसको पवित्र रखने के लिये जो साधन आदि सृष्टि से जगन्माता ने नियत किये हैं, उन साधनों को हटा नहीं लियां

और नाहीं उनके स्वभाव में कुछ परिवर्तन किया है अर्थात् हमारे शरीर से निकली हुई गन्दी-विषमयी वायु को वृक्षों तथा औषधियों का भोजन बनाया है और कई प्रकार के छोटे मोटे पशु पक्षी कृमि आदि का भोजन मनुष्य के शरीर से निकली हुई मलिनता तथा गन्दी वायु ही है। नाना प्रकार के सुगन्धित फूल आदि को इस मलिनता के स्थान पर सुगन्धि फैलाने का कार्य सौंप रक्खा है। और ऐसे ही वर्षा वा नदी नालों के जल के प्रति भी यही कर्तव्य स्थिर कर दिया है। सूर्य भी प्रत्येक प्रकार के मलिन परमाणुओं को प्रत्येक स्थान से उठाने में यत्नशील है। पृथ्वीने भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ा। वह भी मलिनता को अपनी गोद में लेकर सुगन्धित परमाणुओं में परिवर्तित करने में तत्पर है अर्थात् उस जगन्माता के इस ब्रह्माण्डरूप गृह के सब सेवक अपने २ कर्तव्य पालन में दिन रात लगे हुए प्रतीत हो रहे हैं और इस गृह को प्रत्येक प्रकार से पवित्र कर रहे हैं और जगन्माता के यज्ञ की आहुति बन रहे हैं। परन्तु जैसे एक सांसारिक माता भोजन बनाने या अग्निहोत्र करने के लिए अपने सेवकों वा पुत्र पुत्रियों के प्रति कुछ कर्तव्य नियत करती है किसी को आटा किसी को घृत किसी को पानी किसी को लकड़ी और किसी को दियासलाई लाने के लिए नियत करती है उनमें से यदि कोई भी अपने कर्तव्य पालन से इन्कार करे या आलस्य करे, बाजार में जाकर तमाशा या सिनेमा देखने लग जावे,

या किसी वाटिका के शीतल स्थान में जाकर आनन्द पूर्वक सो जावे तो भोजन नहीं बन सकता और सारा परिवार दुःखी या भूखा रहता है। ऐसे ही यह जीवात्मा जिसको जगन्माता का अमृतपुत्र कहा गया है, और जिसके लिए वह माता एक उत्तम भोजन बना या बनवा रही है और जिसके कल्याण वा सुख-आनन्द के लिए उस माता के सब सेवक इस संसार को पवित्र करने में तत्पर हैं और जो इस प्रभु की वाटिका में प्रतिनिधि या पुत्र बनकर इस मनुष्य शरीर में आता है, वह अपने कर्तव्य पालन से इन्कार कर बैठा है अर्थात् उस वायु की पवित्रता में जो इस मनुष्य का कर्तव्य या भाग नियत किया था अर्थात् अग्निहोत्र करना उस परम पवित्र कर्तव्य को मनुष्य ने भुला दिया है। और इसी लिए यद्यपि जगन्माता और उसके सब सेवक अपना २ कर्तव्य पालन निरन्तर करते चले जा रहे हैं, परन्तु मनुष्य के कर्तव्य पालन न करने से यज्ञ अधूरा है उसको पूर्ण आवश्यकतानुसार सुगन्धि नहीं मिलती है। जैसे घृत के बिना अग्निहोत्र ठीक नहीं होता और नमक के बिना भाजी स्वादिष्ट नहीं होती, और इसीलिए आज संसार में वैदिक काल की अपेक्षा जबकि प्रतिदिन प्रतिगृह में प्रातः सायं अग्निहोत्र होता था, रोग की वृद्धि और उसका परिणाम निर्बल और अल्प-आयु बहुत अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। केवल मनुष्य समाज में ही नहीं अपितु यही परिणाम वन पक्षी वनस्पति

आदि में भी प्रतीत हो रहा है। क्योंकि उनमें भी वैसी शक्ति तथा सुन्दरता का रस नहीं रहा है इस का कारण यही है कि मनुष्य ने जड़ देवताओं की उपासना वा पूजन अर्थात् उनके प्रति अपने कर्तव्य को भुला रक्खा है। आज के मनुष्य समाज की उपमा ऐसे व्यक्ति से दी जा सकती है जो किसी कपड़े के व्यापारी बजाज से नये २ सुन्दर वस्त्र पहनने के लिए प्रति दिन तो लाता है और प्रति दिन ही उनको मलिन करके लौटा देता है। यह व्यवहार संसार के किसी भी व्यपारी अथवा माता पिता के साथभी बहुतकाल तक नहीं चल सकता। पुत्र के बड़ा होने पर माता भी उसके वस्त्र धोने और प्रति दिन नये देने से इन्कार कर देती है। अन्त में जो पुत्र पुत्री अपने मलिन कपड़ों को स्वयं नहीं धोते उनको वे ही अपने मलिन वस्त्र पहनने पड़ते हैं और, उसका फल रोग खारिश फोड़े फुन्सी तथा मलिनता का कष्ट सहना ही पड़ता है। यही अवस्था आजके मनुष्य समाज की है। क्योंकि वर्तमान काल के बड़े २ या मुख्य २ कष्टों का कारण आजकी समाज का अग्निहोत्र के कर्तव्य को भुला देना है और इसी कर्तव्य को पुनः जीवित करने से जहां मनुष्य स्वयं सुखी हो सकता है वहां वह अपनी जगन्माता को भी प्रसन्न कर सकता है, जैसे एक आज्ञाकारी पुत्र अपनी सांसारिक माता को प्रसन्न कर लेता है और यही वायु देवता के प्रति मनुष्य का कर्तव्य है।

संख्या ८—मनुष्य स्वास्थ्य के लिए वायु के पश्चात्

जल की महती आवश्यकता है। ऐसे ही पशु पत्ती वनस्पति औषधि-आदि सृष्टि की उन्नति वा पुष्टि वा नीरोगता के लिए शुद्ध पवित्र जल एक आवश्यक साधन हैं और यदि जल अपवित्र है मलिन विषमय रोगवर्धक परमाणुओं से (जर्म ज) से मिला हुआ है तो जल के उपयोग करने वाले प्राणी और ऐसे जल से उत्पन्न फल सब्जी अन्न आदि का सेवन करने वाली जनता भी अवश्य रोगग्रस्त होगी और मलेरिया मियादी टाईफाईड ज्वरादि होंगे। और पेट के अनन्त प्रकार के रोग, हैजा आदि भयानक रोग प्रायः मलिनजल का ही परिणाम है। पृथिवी का गुण गन्ध है, जल का गुण शीतलता, अग्नि का उष्णता और पदार्थों का छिन्न-भिन्न कर देना है। अर्थात् इतना सूक्ष्मकर देना जिससे छोटा परमाणु किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी पदार्थ को आग में डालकर जलाने से उसका नाश नहीं होता अपितु वह परमाणु अपने कारण में परिवर्तित हो जाता है। यज्ञ या अग्निहोत्र में सब से अधिक मात्रा लकड़ी की और घृत या सामग्री की होती है और ये सब मिल कर धूएं के रूप में ऊपर उठ कर आकाश की ओर जाते हैं। मेघ भी अग्नि जल वायु से सम्मिलित धूएं का ही एक रूप है। और यह सब जानते ही है कि सृष्टि रचयिता ईश्वर के नियमानुसार जल के परमाणु प्रत्येक वायु मण्डल में विद्यमान रहते हैं, और घूमते रहते हैं जिन को सूर्य आपनी अकर्षण शक्ति द्वारा समुद्र आदि से ऊपर ले जाता है। और जब पृथिवी से उठी उष्ण वायु के परमाणु

आकाश में वर्तमान वायु में मिलकर शीतल जल के परमाणुओं से टकराते हैं, तो वर्षा होती है। यह भी सब जानते ही हैं कि जैसे जब २ अन्धेरी आती है तो थोड़ी बहुत वर्षा पीछे अवश्य होती है। उसका कारण भी यही है कि वायु इधर उधर भटकते जल परमाणुओं को खैंच लाती है। यहां पर एक और सिद्धान्त का वर्णन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। सूर्य पानी को ऊपर खैंच सकता है। परन्तु घृत के भारी परमाणुओं को ऊपर नहीं ले जा सकता जैसे जल से भीगा हुआ वस्त्र शीघ्र ही सूख जाता है परन्तु घृत से तर किया हुआ वस्त्र कितने ही दिन धूप में रखने पर भी ऊपर उड़ नहीं जाता। क्योंकि छिन्न भिन्न होने की शक्ति आग में जलाने से ही उसमें उत्पन्न होती है। इसलिये यज्ञ अग्नि जलाने पर और उसमें घृत वा अन्य पुष्टिकारक पदार्थों को सूक्ष्म करके वायु के सुपुर्द कर देती है। और जब यह यज्ञ हवन की गरम वायु जिसमें पुष्टिकर और चिकने भारी पदार्थों के परमाणु सम्मिलित हैं ऊपर जाकर शीतल वायु में मिलते हैं तो इन पुष्टिकारक पदार्थों के परमाणुओं का शीतल जल के परमाणुओं में समावेश हो जाता है। और इसी प्रकार यज्ञ की गरम वायु से जब बहुत अधिक अंश में गरम परमाणु ऊपर की शीतल वायु से टकराते हैं। तो उन शीतल परमाणुओं के स्वभाव में भी परिवर्तन होता है अर्थात् वे गरमी से पिघल कर और घृत-आदि सामग्री पुष्टिकारक वा भारी परमाणुओं

के भार से नीचे गिरने के लिये बाधित हो जाते हैं और इसी को वर्षा कहते हैं। और यही अग्निहोत्रादि यज्ञ के सुगन्धित परमाणुओं से पवित्र वा सुगन्धित वा पुष्टिकारक बनाया हुआ जल वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरता है और इस पवित्र जल का जो पशु पक्षी तथा मनुष्य सेवन करते हैं और ऐसे जल से जो वनस्पति औषधि पकते हैं और इस जल से उत्पन्न घासादि का सेवन करके जो पशु दूध देते हैं। ऐसे पवित्र वा नीरोग तथा पुष्टिकारक अन्न जल का सेवन करने वाले मनुष्यों का शारीरिक वा मानसिक-अथवा-आत्मिकबल कितनी मात्रा में उन्नत होगा इसको पाठक स्वयं ही विचार सकते हैं। क्योंकि मनुष्य की उन्नति के लिये सब से प्रथम और मौलिक साधन शुद्ध वायु और जल तथा शुद्ध-अन्न ही हैं और इन तीनों की पवित्रता का आधार यज्ञकर्म ही है।

संख्या ६—इस यज्ञकर्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ कुछ पढ़े लिखे लोग कहा करते हैं कि जल वायु को शुद्ध स्वयं प्रकृति ही करती रहती है। अन्धेरी आने पर वायु शुद्ध हो जाती है वर्षा पहाड़ों पर होकर फिर मैदान में आती है और इस प्रकार मैदान के जल को भी शुद्ध कर देती है इस लिये अग्निहोत्रादि यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि अन्धेरी आने से गन्दे मलिन या विषाक्त परमाणु तितर-वितर तो हो जाते हैं अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। परन्तु दूर नहीं होते और

न ही उनका नाश होता है, ऐसे ही वर्षा से मलिन परमाणु कुछ काल के लिये दब जाते हैं, परन्तु दूर नहीं होते। यदि ऐसा होता तो पर्वतीय प्रदेशों में जहां पर वर्षा अधिक होती है और अन्धेरियां भी बहुत चलती हैं, तो वहां पर टाईफाईडज्वर वा हैजा आदि रोग नहीं होने चाहिएं। परन्तु ऐसे देशों में जब कोई ऐसा भयानक रोग आता है तो बहुत ही कठिनता से दूर होता है। परन्तु अग्नि में पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके ऊपर उठा ले जाने की शक्ति है। और इस प्रकार यदि विधिपूर्वक आवश्यकतानुसार देशकाल वा ऋतु अनुसार बड़े २ यज्ञ किये जावें और यज्ञ में रोग नाशक पदार्थों की आहुतियां जहां पृथ्वी के समीप के वायु मण्डल को पवित्र कर देती हैं वहां ऊपर उठकर बादलों के अन्दर के मलिन परमाणुओं को भी पवित्र करती हुई मेघों से ऊपर के वायु मण्डल में भी जा पहुँचती हैं, जहां से पृथ्वी की अकर्षण शक्ति उनको नीचे नहीं ला सकती और इस प्रकार सारे अन्तरिक्ष लोक को भी पवित्र कर देती हैं। और इसी विधि से अर्थात् यज्ञ करने से ही मनुष्य का जल देवता के प्रति उत्तम कर्तव्य पालन होता है।

संख्या १०—मनुष्य पशु पक्षी अपितु वनस्पति वा औषधि सृष्टि में भी दो प्रकार के परमाणु होते है एक Negative) अर्थात् विषैले दूसरे (Positive) अर्थात् स्वास्थ्य वर्धक। जब प्रथम प्रकार के विषैले परमाणुओं की किसी

शरीर या वृक्षादि में अधिकता होती है तो उस अवस्था को रोग कहा जाता है और जब दूसरे प्रकार के (Positive) स्वास्थ्य-वर्धक परमाणुओं की विशेषता होती है तो इस अवस्था को नीरोग कहा जाता है। मनुष्य जहां पर रहता है और जिस स्थान पर जाता है यदि वह अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म नहीं करता तो वहां अपने शरीर से मलिनता निकाल कर वहां (Negative) अर्थात् विषैले परमाणुओं की वृद्धि करके रोगों को बढ़ाता है। इसलिये (Debit, credit) अर्थात् हानि लाभ के सिद्धान्तानुसार यदि मनुष्य चाहता है कि उसको स्वयं या उसके देश या जाति में रोग न हो तो उसको (Positive) स्वास्थ्य वर्धक कृमियों को इस संसाररूप बैङ्क या खज़ाने में अधिक संख्या में (Credit) अर्थात् जमा कराने चाहिये और वह केवल वेदाज्ञानुसार विधिपूर्वक दैनिक अग्निहोत्र से लेकर मासिक वा वार्षिक यज्ञों के प्रचलित् करने से ही हो सकेगा। परन्तु जैसे कुछ भी न खाने से कुछ खाना अच्छा है ऐसे ही मनुष्य मात्र का यह कर्तव्य है कि वे स्वयं प्रति दिन अग्निहोत्र करे और दूसरों को भी इस कार्य के लिये प्रेरणा करें और इस वैदिक-आज्ञा के प्रचार के फल के पात्र बनें। इसी भाव से प्रेरित होकर भारतवर्ष के ऋषियों ने मनुष्य को प्रत्येक कार्य या संस्कार के आरम्भ में यज्ञ हवन करने का विधान किया है।

पश्चिमीय सभ्यता या विज्ञान के अनुसार वर्तमान समय

में किसी भवन या स्थान से मलिनता दूर करने के लिये अर्थात् (Disinfect) करने के लिये फीनाइल आदि औषधियों का उपयोग किया जाता है परन्तु जो कार्यसिद्धि यज्ञ हवन से होती है वह ये औषधियां नहीं कर सकतीं। क्योंकि जैसे ऊपर लिखा है कि अग्नि में पदार्थों को अति-सूक्ष्म करके छिन्न-भिन्न करने की शक्ति है। इसी लिये किसी भवन के बनाने पर उसके प्रत्येक कमरे में हवन करने की वेद में आज्ञा है। क्योंकि यज्ञ हवन में सामग्री आदि सुगन्धित तथा पुष्टिकारक पदार्थ जलाने से उन पदार्थों के परमाणु वायुरूप होकर उस भवन की प्रत्येक ईंट या कोने २ में तथा सुराखों में भी प्रविष्ट होकर अपना रोग नाशक असर डालते हैं। और प्रत्येक स्थान से अपवित्र परमाणुओं को निकाल कर भवन से बाहर के ऊंचे वायु मण्डल में ले जाते हैं और इस प्रकार सारे भवन को सुगन्धित और पवित्र कर देते हैं और जो अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। और यही पृथिवी देवता के प्रति मनुष्य का कर्तव्य पालन करना है। इस से उत्तम अभी तक कोई और विधि आविष्कृत नहीं हुई है।

संख्या ११—जैसे कि ऊपर लिखा गया है, भारतवर्ष के शास्त्रकार ऋषि लिखते हैं कि जैसे समुद्र या दरिया का जल झाग को ऊपर रखता है ऐसे ही यज्ञ की अग्नि जिस स्थान पर यज्ञ किया जावे वहां की स्थूल गन्दी वायु को हलका करके ऊपर ले जाती है और उसके साथ ही उस गन्दी वायु के कृमियों को झाग की भान्ति ऊपर रखती हुई बादलों से भी

ऊपर ले जाती है इसी प्रकार ऋषियों ने अग्नि की सात प्रकार की ज्वालाऐं या (Gases) लिखी हैं जो कि जहां प्राणि-मात्र के बड़े २ रोगों के विषैले कृमियों को नाश कर देती हैं, वहां वनस्पति वा औषधि आदि के फलों को शुद्ध रसदार तथा मोटा करने में सहायक होती हैं और उनके विषैले कृमियों को मारने का काम करती हैं। ये गैसें हवन में विशेष २ प्रकार की सामग्री डालने से उत्पन्न होती हैं। जब हवन किया जाता है तो हवन का धुआं पहले समीपस्थ वायु-मण्डल में फैल कर एक मण्डल सा बना लेता है दूसरे उसमें जल के परमाणु भी होते हैं इसलिये सूर्य की किरण उसमें अधिक काल तक ठहर सकती हैं अर्थात शीघ्र छिन्न भिन्न नहीं कर सकती। और इस प्रकार हवन के धुएं की एक भाप सी बन जाती है जिसको फल या अनाज जिनके समीप हवन किया जावे, जल का ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिये हवन में जैसे शुद्ध या पुष्टिकारक सामग्री डाली जावेगी वैसे ही परमाणु भाफ के रूप में फलों आदि के अन्दर प्रवेश करके उस अन्न या फल को गुणकारी पवित्र और मोटा रसदार बना देंगें इसलिये वनस्पति फलों आदि के प्रति भी मनुष्य का कर्तव्य यज्ञ हवन से ही पूरा होता है। और वर्तमान में वनस्पति वा औषधि का पूर्वकाल जैसा गुणकारी रसदार नीरोग लाभ-दायक न होने का यही कारण है कि मनुष्य ने यज्ञ विज्ञान को भुला रखा है।

संख्या १२—यज्ञ की महिमा बतलाते हुए कुछ पश्चिमीय

खोज करने वाले विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वह सरस्वती मासिक पत्रिका अक्टूबर १९१९ में प्रकाशित हुआ था जो कि पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिये नीचे लिखा जाता है।

(१). धुवें के लाभ दिखलाते हुए फ्रांस के एक साईन्स के प्रोफेसर Tinilumant टिलवर्ट कहते हैं कि जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति है। वे कहते हैं कि क्षय रोग (तपदिक रोग) चेचक हैजा आदि शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

(२). डाक्टर M. Trodool ट्रौडूल ने मुनक्का किशमिश आदि फलों को जिन में शक्कर अधिक होती है जला कर देखा है। उनको अनुभव हुआ है कि इनके धुएं से टाईफाईड यानी मियादी बुखार के जर्मज़ ३० मिनिट में और दूसरे रोगों के कृमि घंटे या २ घंटे में नष्ट हो जाते हैं।

(३). मदरास के सैनेटी कमिश्नर डाक्टर कर्नल सीन J. M. G. ने कालेज के विद्यार्थियों को उपदेश दिया है कि घृत चावल में केशर मिलाकर जलाने से बीमारी के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(४) फ्रांस का डाक्टर हाफ़्वीन कहता है कि घृत जलाने से रोग के कृमि नष्ट हो जाते हैं। इन प्रमाणों से भी पता लगता है कि यदि विचार पूर्वक समयानुसार सामग्री का घृत से निरन्तर हवन किया जावे तो कितने ही प्रकार के शारीरिक रोग दूर हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र यज्ञकर्म के अनेक मानसिक

सामाजिक वा आत्मिक अमूल्य लाभ हैं जिनका जानना पाठकों के लिये बहुत ही आवश्यक प्रतीत होता है। इस लिये उन पर अब प्रकाश डालने का यत्न किया जावेगा।

(१) अग्नि सब पदार्थों को भस्म कर देती है इस लिये हवन करने वाले व्यक्ति पर भी प्रातः सायं अग्निहोत्र करने से यह दृश्य देखकर अवश्य प्रभाव पड़ेगा कि संसार के सब पदार्थ और मेरा शरीर भी नाशवान् है अवश्य भस्म हो जावेगा। इस लिये वह व्यक्ति पाप से बचेगा।

(२). अग्नि का स्वभाव ऊपर उठने का है। कितना ही यत्न किया जावे उसकी ज्वाला कभी नीचे को नहीं जाती इस लिये अग्नि होत्र करने वालों को ऊपर उठने और उन्नत या उत्तम बनने की शिक्षा मिलेगी अर्थात् उसको विचार होगा कि जिसका मैं उपासक हूं वह किसी भी प्रकार के प्रलोभन आदि से नहीं दबाई जा सकती, डराई नहीं जा सकती, और अपने तपादि धर्म को नहीं छोड़ती तो मैं पाप या लोभ से क्यों दबूं। मुझे भी मनुष्यत्व पर तथा सत्य अर्थात् अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए अभय रहना चाहिये।

(३) अग्नि सब को पवित्र करती है और स्वयं सदा पवित्र रहती है जो वस्तु अग्नि में डाली जाये अग्नि उस वस्तु की मलिनता को ग्रहण नहीं करती अर्थात् दूसरी किसी वस्तु के अवगुण को ग्रहण न करती हुई स्वयं सदा पवित्र रहती है। अपना पवित्रता का स्वभाव किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ती इसलिये अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति या समाज के मन पर

भी यह अवश्य प्रभाव पड़ेगा और शिक्षा मिलेगी कि यदि कोई व्यक्ति या समाज दूसरों को पवित्र तथा सुधार करना चाहता है तो उसे दूसरों के अवगुण ग्रहण नहीं करने चाहिये।

(४) अग्नि में जो वस्तु डाली जावे अग्नि उसमें से अपने लिये कुछ नहीं रखती, वायु द्वारा आगे सब संसार में बाँट देती है अर्थात् परोपकार ही अग्नि का जीवन है इस लिये अग्नि होत्र करने वालों को भी परोपकारी और स्वार्थ रहित होने की उत्तम शिक्षा मिलती है और यही सच्ची देवपूजा है। क्योंकि मनुष्य अग्नि देवता का पूजन वा उपासना अग्नि प्रज्वलित करके अग्निहोत्र द्वारा ही कर सकता है और वह स्वयं भी उसके गुणों को धारण करके देवता बन सकता है।

(५) जिस गृह में प्रतिदिन सम्मिलित पारिवारिक अग्निहोत्र होता है अर्थात् माता पिता श्रद्धापूर्वक अपनी सन्तान के साथ सत्संङ्ग लगाते हैं तो स्थान पवित्र करके सब सामग्री लकड़ी घृत आदि एकत्रित करके सबको नियम में आसन लगाकर बैठना होता है और विधि पूर्वक आचमन लेते समय और आहुति डालने के वेदमन्त्र आदि के बोलने की क्रिया करनी होती है और इस प्रकार सन्तान को भी चञ्चलता छोड़ कर कुछ देर संयम से बैठने और माता पिता आदि का सम्मान वा आज्ञा का पालन करते हुए सभ्य बनने का अभ्यास हो जाता है। इसके अतिरिक्त समय पर आने, समय पर सोने वा उठने तथा स्नान करने आदि कितने ही शुभ गुण धारण करने का अभ्यास पड़ जाता है अर्थात्

जिस नियन्त्रण Discipline का अभाव आजकल की शिक्षित अशिक्षित जनता तथा सन्तान में अनुभव हो रहा है और जिसके कारण देश जाति के नेता विद्वान् और गृहस्थी प्राय दुःखी हो रहे हैं। वह अग्नि-होत्र की प्रथा डालने से स्वयं बिना किसी विशेष यत्न के सन्तान तथा जनता में आ सकता है। क्योंकि किसी वृक्ष की कोमल डाली को जिस तरफ माली चाहे झुका सकता है और पेबन्द लगा सकता है। पक्की डाली को मोड़ा नहीं जा सकता। इसी प्रकार कच्चे घड़े पर जैसा रंग दिया जावे और बेल बूटे अङ्कित किये जावें वे पकने पर वैसे बने रहते हैं। ऐसे ही छोटी आयु में सन्तान को अग्निहोत्र में सम्मिलित करने से अनेक शुभ गुण सन्तान में अपने आप आ जाते हैं। परन्तु पीछे लाख यत्न करने पर भी सन्तान का सभ्यता पूर्व उठना बैठना समय पर सोना जागना छोटे बड़े का यथा योग्य सम्मान वा आज्ञा पालन तथा धर्मकर्मों में श्रद्धा व प्रेम उत्पन्न नहीं होता है। जिसके लिये जाति के नेता गुरु वा माता पिता आदि पीछे पश्चात्ताप करते रहते हैं और नवयुवकों के तथा नवयुवतियों के प्रति सबका उपालम्भ बना रहता है अर्थात् उनकी शिकायत करते रहते हैं। परन्तु शुभ गुण बहुत अंश तक केवल परिवार में नियत समय में सम्मिलित होकर सम्मिलित अग्निहोत्र की प्रथा डालने से सन्तान में उत्पन्न किये जा सकते हैं और गृहस्थ को स्वर्ग बनाया जा सकता है।

(६) यज्ञ या अग्निहोत्र करते हुए जो वेद मन्त्र पढ़े जाते हैं उनसे एक तो वेद ज्ञान की रक्षा होती है क्योंकि मन्त्र कण्ठस्थ हो जाते हैं। दूसरे जिन मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है और उनमें यज्ञ की महिमा वा लाभों का वर्णन किया गया है और यज्ञ से प्राप्त लाभ और शुभ कामनाओं के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है। जिससे मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होकर मनुष्य उपासक की श्रेणी को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त वेद मन्त्रों में अहम्भाव भी नहीं है। वेद में जो प्रार्थनाएं हैं या शुभ कामनाओं को प्राप्त करने की विधि का वर्णन है, वे सब बहुवचन में हैं अर्थात् सारे संसार के कल्याण के लिये हैं। विद्यार्थी और गृहस्थी कारो-बारी मनुष्य प्राय: दिन भर अहम्भाव में विचरता है या स्वार्थ में लगा रहता है। अर्थात् जो कुछ सोचता या करता है सब अपने लिये या अपने परिवार के कल्याण के लिये सोचता या करता है। परन्तु प्रात: सायं जब मनुष्य अग्निहोत्रादि ऊंचे स्वर से वेद मन्त्र पढ़ते हुए करता है तो एक तो वेद मन्त्र का उच्चारण ठीक हो जाता है दूसरे ऊंचे स्वर से वेद मन्त्र पढ़ने से मन भी एकाग्रह हो जाता है। इधर उधर भटकता नहीं। अहम्भाव या बुरे विचारों से भी बचता है और जितनी देर तक यज्ञ करता हुआ वेद मन्त्र बोलता रहेगा उतनी देर ही स्वार्थ या ममत्व को छोड़कर सारे संसार के कल्याणकारी भाव में ही विचरता रहेगा। अर्थात् सबके भले वा कल्याण के लिये शुभकामना वा प्रार्थना करता रहेगा।

किसी अपने अमित्र को भी जिसके लिये दिन भर शुभ इच्छा मनुष्य नहीं करता यज्ञ के समय वेद मन्त्रों द्वारा की हुई शुभकामना या प्रार्थना में से पृथक् नहीं कर सकता इस लिये यज्ञ करने वाला व्यक्ति या परिवार जितनी देर यज्ञ कर रहा है प्रभु इच्छा में विचरता है। क्योंकि वेद मन्त्र प्रभु की वाणी है और उसमें सबके कल्याण का ही वर्णन है। (किसी मनुष्य की अपनी वाणी में की हुई प्रार्थना आदि में कुछ न कुछ ममभाव या स्वार्थपरायणता आ ही जाती है) इस लिये यज्ञ का वेद मन्त्रों सहित करना, वही करना और विचरना है जो सृष्टि-रचयिता जगदीश्वर करता और विचारता है इस लिये अग्निहोत्र यथार्थ रूप में प्रभु भक्ति का 'क' 'ख' या Symbol अर्थात् चिह्न या आरम्भ है।

(७) शब्द नित्य है इसको सर्व शास्त्रकार मानते हैं। और अब तो रेडियो ग्रामोफोन बाजे ने प्रत्यक्ष सिद्ध ही कर दिया है कि मनुष्य के मुख से निकला हुआ शुभ या अशुभ कोई शब्द भी नष्ट नहीं होता अपितु संसार के समस्त वायुमण्डल में फैल कर शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न करता है। जैसे समुद्र नदी या तालाब में पत्थर फेंकने से लहरें पैदा होतीं हैं और वे लहरें बन्द नहीं होतीं जब तक किसी किनारे से नहीं टकरातीं इसी प्रकार बोला हुआ शब्द भी वायुमण्डल में जाकर नष्ट नहीं होता अपितु आकाश में घूमता रहता है। क्योंकि आकाश की कोई सीमा नहीं। इसलिए शब्द भी

लोक लोकान्तरों में जिनकी सीमा नहीं घूमता रहता है। और दूसरे प्राणियों पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालता है। इसी प्रकार मनुष्य के मन की शुभ या अशुभ प्रार्थना वा कामनाएं अथवा विचार भी संसार के वायुमण्डल में स्थिर रहते हैं, नष्ट नहीं होते, क्योंकि विचारों की ही दुनियां है। सब जानते हैं कि बिजली की गति बहुत तीव्र है और बिजली की शक्ति (Wireless Telegraphy) अर्थात् बिना तार के तार ने यह सिद्ध कर दिया है, कि मनुष्य के विचार शब्द रूप धारण करके कितनी शीघ्रता से दूसरों तक पहुँचते हैं और शुभ या अशुभ जैसे विचार होते हैं, वैसा प्रभाव जनता पर डालते हैं, और वैसा ही फल प्रेम या द्वेष शान्ति या अशान्ति लोक लोकान्तरों में उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु मन की गति बिजली से भी बहुत तीव्र है, इसलिये किसी व्यक्ति या समाज की हार्दिक शुभ या अशुभ कामनाएं, प्रार्थनाएं और विचार कितना शीघ्र और कितना गहरा प्रभाव दूसरों पर डालती हैं यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इसलिये जो व्यक्ति वेदमन्त्रों द्वारा यज्ञ हवन करता है वह केवल अपने किसी विरोधी के मन को ही परिवर्तित नहीं करता अपितु संसार के वायुमण्डल के पवित्र शब्दों वा विचारों के कोष में भी वृद्धि करता है, और इस प्रकार सृष्टि के वर्तमान मलिन शब्दों वा विचारों को झाड़ू से शुद्ध कर देता है। इस से उत्तम कार्य मनुष्य के कर्तव्य कर्मों में मनुष्य के लिये कौनसा हो सकता है क्योंकि यही

कार्य ऋषि मुनि महात्मा संन्यासी संसार में जन्म लेकर किया करते हैं। और इस ऋषि कर्त्तव्य का जन्म प्रत्येक मनुष्य में सरलता से अग्निहोत्र के द्वारा हो सकता है।

(८) शास्त्रों में यज्ञ शब्द के तीन अर्थ किये हैं देवपूजा, संगतिकरण, तथा दान और अग्निहोत्र में ये तीनों लाभ मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

(१) ऊपर लिखी विधियों के अनुसार जड़ चेतन दोनों प्रकार के देवताओं की पूजा उत्तम रीति से होती है। और ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करने से तथा वेदवाणी की रक्षा वा प्रचार सब देवों के देव परमेश्वर का पूजन भी होता है।

(२) जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु जल, पृथ्वी के संगतिकरण और परस्पर सहायता से ही इस संसार की महिमा, सुन्दरता वा उपयोगिता सिद्ध होती है, ऐसे ही अग्निहोत्र में प्रतिदिन परिवार या समाज के मिलके बैठने और मिल कर विचार करने वा कार्य करने से प्रत्येक पारिवारिक वा सामाजिक कार्य की सिद्धि हो सकती है क्योंकि संगतिकरण या संगठन का फल ही शक्ति है और जहां शक्ति है वहां सफलता हाथ बांधकर खड़ी रहती है।

(३) अग्निहोत्र से जिस प्रकार का दान होता है इस प्रकार की उत्तम व सफल विधि दान की भी और कोई प्रतीत नहीं होती क्योंकि यज्ञ दान से कभी विपरीत फल की सम्भावना हो ही नहीं सकती।

(४) मनुष्य के दैनिक कर्तव्य में शास्त्रकार ऋषियों ने पांच प्रकार के यज्ञ लिखे हैं और इन यज्ञों में वह कार्य करने की शक्ति है जिस कार्य के करने में बड़े २ चक्रवर्ती राजे अपनी पूरी युद्ध की शक्ति वा हथियारों के होते हुए और बड़े २ विद्वान् और पहलवान भी असमर्थ रहे और आज भी असमर्थ हैं अर्थात् मनुष्य के भीतर के शत्रुओं अर्थात् काम, क्रोध, लोभ मोह, अहङ्कार को अपने वश में करके मित्र बना लेना ।

ब्रह्म यज्ञ—अर्थात् ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना करने से उनकी महिमा वा महत्ता को जान कर मनुष्य अहङ्कार को छोड़ नम्र हो जाता है । जैसे किसी कवि ने कहा है कि "कोटान कोट भूमि, उस पर असंख्य प्राणि । जगदीश अपना नम्बर मैं कौनसा गिनाऊं" । ब्रह्मयज्ञ के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य को निश्चय हो जाता है कि सम्भवतः हिमालय पर्वत पर एक चिऊंटी की कुछ गणना या हस्ती हो सकती है परन्तु उस प्रभु को सृष्टि में वा प्रभु की शक्ति की तुलना में मेरी शक्ति की कोई गणना या हस्ती नहीं है । इसलिये वह निरभिमान होकर विचरता है ।

देवयज्ञ—अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने से जहां "इदन्न मम" का पाठ प्रतिदिन सायं प्रातः उच्चरण होता हो वहां मनुष्य को त्याग वा वैराग्य की शिक्षा मिलती है अर्थात् सांसारिक मोह की निवृत्ति हो जाती है । वही मोह, प्रेम में

परिणत होकर ईश्वर प्राप्ति का साधन होने से मनुष्य का मित्र बन जाता है।

भूतयज्ञ—अर्थात् अपने भोजन या कमाई से यज्ञ-कर्त्ता मनुष्य की सेवा के पात्र जो प्राणी हैं, उनका भाग प्रतिदिन उनको देकर भोजन करना अर्थात् बांट कर खाने से मनुष्य में लोभ की न्यूनता होकर उदारता की वृद्धि होती है जो कि ईश्वरीय गुण है।

पितृयज्ञ—अर्थात् प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही माता पिता आदि वृद्धों की चरणवन्दना करना या नमस्ते करना उनको अन्नजल वस्त्रादि से सेवा वा सन्मान पूजाभाव से करते हुए और उनकी आज्ञाओं का पालन करके उनका सहनशीलता (Tolerance) का उत्तम गुण पैदा हो जाता है और क्रोध जैसा शत्रु भी मित्र बन कर नम्रता और मन्यु में परिवर्तित हो जाता है।

अतिथि यज्ञ—अर्थात् त्यागी परोपकारी सदाचारी विद्वान् संन्यासी महात्माओं की सेवा वा सत्सङ्ग से मनुष्य उनके उपदेशों को सुनकर संयमी बनता है अर्थात् शास्त्र में बतलाये वा संयम में रहने के अनुभूत साधनों को महात्माओं से सुनकर और उनको जीवन में धारण करके मनुष्य संयमी बन कर कामवृत्ति को भी अपना मित्र बना लेता है क्योंकि सत्सङ्ग से ही मनुष्य के विचार सत्त्वगुणी बनते

हैं और स्वाध्याय वा सात्त्विक विचारों ही से मनुष्य गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी रह सकता है और यही विधि काम-वृत्ति को वश में करने या मंत्र बनाने की है जो कि अतिथि यज्ञ के द्वारा बहुत ही सरलता से प्राप्त हो जाती है।

अन्त में एक अति आवश्यक विचार पाठकों की सेवा में रखना है जिसको ध्यान में रखने से ऊपर लिखे सब कर्त्तव्यों का पालन मनुष्य के लिये सरल हो जाता है और सफलता भी निश्चित और शीघ्र प्राप्त हो जाती है। जैसा कि एक संस्कृत के कवि ने कहा है कि "यादृशीं भावना कुर्यात् सिद्धि-र्भवति तादृशी"। अर्थात् मनुष्य की जैसी भावना किसी कर्म में होती है, वैसी ही सिद्धि भी उसको प्राप्त होती है। क्योंकि मनुष्य का स्वभाव सात्त्विक, राजस, तामस जैसा होता है, अर्थात् जिस गुण की विशेषता मनुष्य में होती है वह विशेष गुण मनुष्य के विचारों वा कर्मों को अपनी ओर आकर्षित करके अपने जैसा ही बनाता चला जाता है और एक दिन मनुष्य का जीवन वैसा ही बन जाता है और वैसे ही लक्ष्य की उसको प्राप्ति भी होती है जैसे एक देवी भोजन बनाते समय अपने कर्तव्यानुसार अतिथि सेवा के लिए दो चार रोटी प्रतिदिन अधिक बनाती है जैसा कि कुछ काल पूर्व तक भारतवर्ष की देवियों का स्वभाव था और जिस समय उसके द्वार पर कोई सच्चा अतिथि या ग़रीब भूखा आवाज़ देता है कि "भिक्षां देहि", यदि वह परिवार के भोजन कर चुकने के पीछे भी आ जाता है, जिसकी सहायता

आवश्यक प्रतीत होती है तो गृहदेवी को ऐसे अतिथि या ग़रीब को देख कर या आवाज़ सुनकर प्रसन्नता होती है क्योंकि उसका यज्ञ सफल होता है और ईश्वर का धन्यवाद करती हुई अतिथि या किसी भूखे को अन्न देकर उसका आशीर्वाद लेती है और अपने चित्तको समस्त दिन के लिये इस शुभ कर्तव्य के फलस्वरूप शान्त बनाये रखती है। एक दूसरी देवी है, जिसका अपने भोजन में से किसी दूसरे को देने का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह भोजन की सामग्री भी उतनी ही बनाती है, जितनी परिवार के लिये आवश्यक है यदि अकस्मात् एक रोटी अधिक पक जाय तो नौकर को डांट बतलाती है परन्तु भोजन के समय या उसके पश्चात् कोई अतिथि या ग़रीब उसके दरवाजे पर आजावे जिसकी सेवा वा सहायता करना वह भी परम-आवश्यक समझती है परन्तु उस अतिथि या ग़रीब को डांट देती है या कभी बाधित होकर किसी के लिये थोड़ा भोजन बनाना ही पड़ जावे तो वह भोजन बनाने और खिलाने में महान् कष्ट का अनुभव करती है और उसका मुख प्रसन्न होने के स्थान पर उल्टा अप्रसन्नता के चिह्न दर्शाता है। यद्यपि कर्म दोनों देवियों का एक ही है, दोनों अतिथि को भोजन खिला रही हैं परन्तु यह सब शुभ-अशुभ भावना का ही परिणाम है कि एक प्रसन्न चित्त है और दूसरी दुःखी हो रही है। इसी प्रकार सब कर्तव्य पालन का फल या सफलता मनुष्य की भावना पर निर्भर है। जो स्त्री पुरुष अग्निहोत्र तो प्रतिदिन करते हैं

परन्तु भावना राजसी है अर्थात् विचार है कि अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने से मेरे परिवार या समाज के सभासद् मुझे अच्छा श्रेष्ठ व्यक्ति समझेंगे, मेरा मान होगा और इस प्रकार मेरा व्यापार भी अधिक चलेगा तो उसका वैसा ही फल मिलेगा अर्थात् मान होगा, कारोबार चलेगा, इसके आगे कुछ नहीं। परन्तु एक स्त्री या पुरुष प्रातःकाल उठते हैं और यह भावना लेकर अग्निहोत्र करने बैठते है कि प्रभु के सब सेवकों ने उठ कर अपना कर्तव्य आरम्भ किया है, सूर्य ने जनता को प्राण और ताप देना आरम्भ किया है, वायु ने भी संसार को पवित्र करना और इसी प्रकार सब देवताओं ने प्रभु की आज्ञा वा नियमानुसार अपना नियत कार्य आरम्भ किया है। इस लिये उस जगज्जननी ने जो कर्तव्य मेरे प्रति प्रातःकाल उठ कर किया जाना नियत किया है वह मुझे पुत्रवत् आरम्भ कर देना परम आवश्यक और उचित है। और वे स्त्री पुरुष प्रातःकाल के ईश्वरस्तुति आदि वेद मन्त्रों को पढ़ता हुआ बिना किसी फल की इच्छा के कर्तव्य भावना से अग्निहोत्र करना आरम्भ करता है, तो वह उन देवताओं की श्रेणी में ही खड़ा हो जाता है। यथार्थ रूप में सूर्य बहुत बड़ा देवता है, वह संसार की पवित्रता वा स्थिरता में बड़ा भाग लेता है, ऐसे ही वायु जल पृथ्वी वनस्पति भी देवता है। क्योंकि देवता प्रतिदिन निःस्वार्थ भाव से कार्य करते हैं और सारे संसार के सुधार वा उपकार में उनका बड़ा भारी भाग है, परन्तु जैसे परिवार केवल बड़ों से ही नहीं बनता अपितु छोटे बच्चे भी परिवार

में ही सम्मिलित होते हैं, ऐसे ही मनुष्य का अग्निहोत्र कर्म यद्यपि उन देतवाओं की तुलना में एक छोटा सा संसार की पवित्रता में साधन है परन्तु यह भी देवताओं जैसा ही काम है। इस लिये जैसे बड़े २ फूलों की माला में एक छोटा सा चम्बेली का सुन्दर और सुगन्धित फूल भी सम्मिलित होता है और माला जब किसी विद्वान् महात्मा के गले में पड़ती है तब वह छोटा चम्बेली का फूल नहीं रहता। इस लिए इस सात्त्विक भावना से वेदमन्त्र पढ़ते हुए और श्रद्धा से अग्निहोत्र करने वाला स्त्री पुरुष भी देवताओं की श्रेणी में ः तः:काल खड़ा हो कर ईश्वर के पूजन में लगा हुआ होता है। और यह उसकी यज्ञ की भावना एक दिन उस को यज्ञ-रूप बनाकर ईश्वर का सच्चा पुजारी बना देती है अर्थात् मुण्डक-उपनिषद् के लिखे अनुसार यज्ञ की ज्वालाएं ईश्वर की समीपता या दर्शन का साधन बन जाती हैं। और यजमान को द्यु लोक में ले जाती हैं। और फिर नीचे लिखे वेद मन्त्र के अनुसार ऐसे यजमान की यह शरीर रूप नगरी सात ऋषियों की नगरी बन जाती है और मनुष्य को ज्ञानेन्द्रियों के नाम भी ऋषियों जैसे नामों में परिवर्तित हो जाते हैं।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदम-प्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

अर्थात् इस शरीररूप यज्ञशाला में सात ऋषि बैठे हुए

यज्ञ कर रहे हैं; अर्थात् १. आँख २. कान, ३. नासिका, ४ जिह्वा, ५. त्वचा, ६. मन, ७. बुद्धि ये सातों ऋषि रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करते हुए, मन मनन करता हुआ और बुद्धि निश्चय करती हुई अपनी ज्ञान पूर्वक क्रियाओं से भगवान् का यज्ञ कर रहे हैं। क्योंकि इसका कर्त्तव्य प्रभु का भजन अर्थात् प्रभु आज्ञानुसार कर्म करना है इसके अतिरिक्त इस शरीर के अन्दर सात ऋषि और हैं जिनको सात प्राण कहते हैं ये ऋषि बिना प्रमाद या आलस्य के निरन्तर इस यज्ञ शाला की रक्षा कर रहे हैं। यह यज्ञ रात दिन चल रहा है क्योंकि स्वप्न में ज्ञानेन्द्रियां बराबर कर्म करती रहती हैं अर्थात् देखती व सुनती हैं परन्तु सुषुप्ति अवस्था में ये सात ज्ञान प्रवाह अपने लोक में लीन हो जाते हैं। तब भी दो देव जो कभी सोते नहीं हैं प्रत्येक समय जागते रहते हैं अर्थात् जीवात्मा और प्राण निरन्तर बिना आराम वा निद्रा लेने के इस यज्ञ को प्रज्वलित रखते हैं। अर्थात् यज्ञाग्नि मन्द नहीं होने देते। क्योंकि सृष्टि रचयिता प्रभु ने यह शरीर रूप कुण्ड यज्ञ के लिये ही बनाया है और इस अवस्था को प्राप्त दोनों चक्षुओं का नाम विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि है, दो कानों का नाम गौतम और भारद्वाज ऋषि है, दो नासिकाओं का नाम वशिष्ठ और कश्यप ऋषि है, और जिह्वा या वाणी का नाम अत्रि ऋषि वेद में रक्खा गया है।

संख्या १३—परन्तु यह अवस्था कब प्राप्त होती है अर्थात् यह शरीर रूपी नगरी ऋषि नगरी कब बनती है? और जब

ईश्वर सर्वव्यापक है तो मुण्डक-उपनिषद् के उपरि-वर्णित श्लोकानुसार यजमान के द्यु लोक में पहुंचाने का क्या तात्पर्य है? जैसा कि सब विद्वान् जानते हैं भौतिक सृष्टि के विचार से तीन लोक हैं।

१—पृथिवी लोक २—अन्तरिक्ष लोक ३—द्युलोक। ऐसे ही मनुष्य शरीर को भी ऋषियों ने तीनों लोकों में बांटा है, १. शरीर के नीचे भाग अर्थात् नाभि तक को पृथिवी लोक, २. मध्य भाग अर्थात् नाभि से गर्दन तक को अन्तरिक्ष लोक ३ गर्दन से ऊपर मुख तथा सिर के भाग को द्यु लोक कहा गया है अर्थात् ज्ञान या प्रकाश करने वाला भाग और इसी प्रकार गुणों के विचार से शरीर के नीचे का भाग या पृथिवी लोक को तमोगुण प्रधान और मध्यभाग या अन्तरिक्ष लोक को रजोगुण प्रधान, और सब से ऊपर के भाग मुख या द्यु लोक को सत्वगुण प्रधान माना है, और यह इनके कर्मों से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इसलिये जो स्त्री-पुरुष सात्त्विक भावना से यज्ञ करता है वह द्यु लोक अर्थात् ज्ञानयुक्त वा प्रकाशयुक्त लोक को प्राप्त होता है और ईश्वर को जो कि सृष्टि के जड़ चेतन देवताओं का पति है क्योंकि उसका वास स्थान अथवा प्राप्ति का स्थान ज्ञान वा प्रकाश ही है क्योंकि वह अज्ञान अन्धकार से परे है जैसे कि स्वयं वेद भगवान् कहते हैं—

ओ३म् उद्वयं तमसः परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

इस लिये सात्त्विक भावना से किये यज्ञ की ज्वालाएं यजमान को देवताओं के पति के लोक में ले जाती हैं यह यथार्थ ही कहा गया है, परन्तु जो यज्ञ राजस तथा तामस भावना से किये जाते हैं वे यजमान को पृथिवी लोक या अन्तरिक्ष लोक अर्थात् तमोगुण प्रधान या रजोगुण प्रधान योनियों में ले जाने के कारण बनते हैं जिनका परिणाम अशान्ति, लड़ाई झगड़ा और पशुवृत्तियों की अधिकता अर्थात् दुःख और परतन्त्रा का जीवन ही हो सकता है और यही वर्तमान काल में विशेषता से दृष्टिगोचर हो रहा है क्योंकि कर्म तो मनुष्य अब भी कर रहे हैं और कर्म के बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता जैसा कि गीता में भी कहा है—

नहि कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

अर्थात् कोई भी मनुष्य एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता परन्तु कर्म यज्ञ भावना से नहीं हो रहे अर्थात् यदि कहीं यज्ञ होता है तो वहां भी केवल 'इदन्न मम' का पाठ ही होता है कर्म में यह भाव बहुत ही कम है ।

संसार का खेल आज खेला जा रहा है। राजा लोग या गवर्मेंण्ट राज्य या शासन कर रहे हैं प्रजा से कर भी लिया जा रहा है परन्तु यज्ञ की भावना नहीं है, इसलिये न राजा को शासन में सुख है और न प्रजा ही सन्तुष्ट है धन को संस्कृत में रयि कहा गया है अर्थात् रमण करने वाला,

खिलाड़ी, खेल करने वाला और इसलिये धन को भी देवता कहा गया है और एक महात्मा ने कहा है जब तक मनुष्य धन को कमाता है वह भिखारी है जब कमा कर रख लेता है तो चौकीदार है अर्थात् सेवक या दास है परन्तु जब उपयोग करता है अर्थात् खाता और देता है या बांटता या खेल खेलता है तो वह मनुष्य धन का स्वामी बनता है, और इसी को यज्ञ की भावना कहते हैं। और फिर यह धन देवता बन जाता है और यजमान को द्युलोक में ले जाने का साधन बनता है। अनाज या धन का अभाव अब भी नहीं है परन्तु आज यज्ञ की भावना संसार में नहीं। इसलिये पूंजीपति और मजदूर (Capital & labour) का झगड़ा है और समस्त संसार दु:खी है। मनुष्य का जीवन आज भी व्यतीत हो रहा है, अर्थात् जीवन का यज्ञ पूर्ववत् चल रहा है। परन्तु सात्विक भावना के न होने से उलटा अर्थात् राजस तामस फल मनुष्य को प्राप्त हो रहा है। यज्ञ में आहुति आज भी पड़ रही है, धनी दान कर रहा है, या किसी को दे रहा है। परन्तु आहुति स्वयं नहीं दी जा रही कोई पकड़ कर डलवा रहा है, विद्वान् विद्या दे रहा है, उपदेशक उपदेश कर रहा है, परन्तु किसी स्वार्थ-वश राजस या तामस भाव से। आयु बीत रही है साथ साथ यज्ञ की आहुति दी जा रही है परन्तु उमर कट रही है। आयु से कुछ लाभ या उन्नति नहीं हो रही, इसलिये आनन्द नहीं आ रहा। इसी प्रकार नौकरी दुकानदारी आदि सब कर्म हो रहे हैं परन्तु कर्त्तव्य की भावना

से नहीं हो रहे। इसी प्रकार गृहस्थ का यज्ञ भी चल रहा है। परन्तु सात्त्वक भावना के बिना पशु पक्षी की भान्ति अर्थात् नरक बन रहा है। यदि यही शासन शक्ति, धन वा आयु यज्ञ की आहुति बने, अपनी इच्छा से परोपकार में लगे, शुद्ध पवित्र खेल खेले जावें तो मनुष्य या समस्त संसार द्यु लोक का अधिकारी बन जावे और ये ही यज्ञ की आहुतियां या ज्वालाएं विमान बन कर यजमान के लिये प्रभु दर्शन का साधन बन जावें। मृत्यु तो दोनों अवस्थाओं में अवश्यं-भाविनी ही है। परन्तु एक मृत्यु परमानन्द का कारण बनती है अर्थात् मनुष्य को अपने चरम लक्ष्य पर पहुंचाती है और दूसरी अवस्था में एक असफल विद्यार्थी की भान्ति रुलाने पश्चात्ताप और दुःख का कारण बनती है जैसे कि महात्मा कबीर जी ने कहा है कि—"जिस मरने से जग डरे मोहे बड़ा अनन्द, मरने से ही पाइये पूर्ण परमानन्द।" ऐसे प्रसङ्ग में महाभारत की उस शक्ति के लिखने का लोभ भी संवरण नहीं किया जा सकता जो कि युद्ध में भाग लेते हुए आश्वत्थामा ने कही थी।

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितो प्रमातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे ॥

अर्थ—स्वर्ग के द्वार युद्ध को त्याग कर भी यदि मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जावे तो युद्ध के त्याग का समर्थन उचित

प्रतीत हो सकता है। परन्तु जब युद्ध के त्याग करने पर भी मृत्यु अवश्यम्भाविनी है तो केवल प्राण बचाने के असफल लोभ से अपने निर्मल यश को कलङ्कित क्यों करना। इसलिये जब मनुष्य बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता तो कर्तव्य कर्मों को यज्ञ की भावना से ही क्यों न किया जावे।

हमें हर समय ईशोपनिषद् के इस मन्त्र का स्मरण करते हुए कर्तव्य कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिये।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः